गगनांचल

वर्ष १ अंक ३-४ १९७८

भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद्
नई दिल्ली

भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद्—भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त संगठन है। भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक सम्बन्धों एवं पारस्परिक समझ को स्थापित और सम्पुष्ट करने के उद्देश्य से १९५० में परिषद् की स्थापना की गई थी। भारत तथा दूसरे देशों के मध्य इस सांस्कृतिक वार्तालाप के उद्देश्य से आयोजित अपने प्रकाशन कार्यक्रम में परिषद् अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त त्रैमासिक पत्रिकाएँ भी प्रकाशित करती है जो हिन्दी (**गगनाञ्चल**), अंग्रेजी (**इण्डियन हॅराइजन्स**), अरबी (**थक़ाफ़त-उल-हिन्द**), स्पेनिश (**पपेलस-दे-ला-इण्डिया**) और फ्रेन्च (**रकोंत्र अवेक लेंद**) हैं। परिषद् सांस्कृतिक घटनाओं की एक सचित्र त्रैमासिक सार-पत्रिका (डाइजेस्ट)—**कल्चरल न्यूज़ फ्रॉम इण्डिया**—भी प्रकाशित करती है जिसका मूल्य नहीं रखा गया है। हिन्दी, अंग्रेजी, अरबी, स्पेनिश और फ्रेन्च त्रैमासिकों की शुल्क दरें साथ दी हुई हैं। शुल्क के भुगतान तथा प्रकाशन सामग्री के सम्बन्ध में समस्त पत्र-व्यवहार निम्न पते पर किया जाना चाहिए :

सम्पादक,
भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद्,
आज़ाद भवन,
इन्द्रप्रस्थ एस्टेट,
नई दिल्ली-११०००२

शुल्क दरें

एक अंक	वार्षिक	त्रैवार्षिक
रु० ३.००	रु० १२.००	रु० ३०.००
£ ०.५०	£ २.००	£ ५.००
$ १.५०	$ ६.००	$ १५.००

सचिव, भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद्, आज़ाद भवन, इन्द्रप्रस्थ एस्टेट, नई दिल्ली-११०००२ द्वारा मुद्रित और प्रकाशित।

ऐवरेस्ट प्रेस, ४ चमेलियान रोड, दिल्ली-११०००६ में मुद्रित।

मानसेवी सम्पादक : भवानीप्रसाद मिश्र

गगनांचल

इस अंक के लेखक

हरीश रायज़ादा : जन्म : १५ जुलाई, १९२३ जिला मैनपुरी (उ०प्र०)। एम०ए०, एल-एल०बी०, पी-एच०डी०, रीडर, अंग्रेज़ी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़। तीस वर्ष से अधिक उच्चतर कक्षाओं के अध्यापन का अनुभव। १९७१ में बी० बी० सी० द्वारा लंदन में आयोजित अंग्रेज़ी भाषा के 'सागर स्कूल' में भाग लिया। १९५२-५३ में 'विश्व साहित्य' त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन और संपादन। प्रकाशन—'लिट्रेरी स्टडीज़', 'आर० के० नारायण—ए क्रिटिकल स्टडी', 'द लोटस एण्ड द रोज़—इण्डियन फिक्शन इन इंग्लिश', 'इब्सेन की नाट्य कला', 'तुर्गनेव के गद्य-गीत', इब्सेन के नाटक 'ग्रोस्ट्स' का अनुवाद 'प्रेतात्माएँ'।

गोविन्द केशव भट : जन्म : १९१४, संस्कृत नाटककार भास के कृतित्व पर किये गये शोध पर डाक्टरेट की उपाधि। सम्प्रति भण्डारकर प्राच्य विद्या शोध संस्थान के क्युरेटर और स्नातकोत्तर विभाग के अध्यक्ष। २५ से अधिक पुस्तकें प्रकाशित जिसमें उपन्यास-कहानियाँ इत्यादि सम्मिलित हैं।

विश[illegible] : जन्म : १९१३, शिक्षा एम०ए० (इतिहास और राजनीति), पी-एच०डी० (राजनीति)। उत्तर प्रदेश के एक स्नातकोत्तर महाविद्यालय के सेवा-निवृत्त प्राध्यापक। केन्द्रीय गांधी स्मारक निधि से सम्बद्ध।

अध्ययन, शोध तथा लेखन के विषय गांधीजी तथा सर्वोदय हैं। प्रकाशित हिन्दी ग्रन्थ—गांधी-परवर्ती सर्वोदय, विनोबा विचार-संकलन आदि।

टी०एस० अनन्तू : जन्म : ६ दिसम्बर, १९४३, मद्रास में, इंजीनियरिंग की शिक्षा कलकत्ता और मद्रास में, बाद में चार वर्ष अमरीका के स्टैन्फर्ड विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा। सम्प्रति गांधी शान्ति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली में शोध-कार्य से सम्बन्धित, विविध पुस्तक-प्रकाशनों के लेखक।

राजनाथ पाण्डेय : एम०ए०, 'साहित्यालंकार', 'राष्ट्रभाषा भूषण', भूतपूर्व प्रो० एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, त्रिभुवन विश्वविद्यालय, काठमाण्डो (नेपाल); अवकाश-प्राप्त रीडर, सागर विश्वविद्यालय। आजीवन स्थायी सदस्य काशी नागरी प्रचारिणी सभा तथा पी०ई० एन०, बम्बई। १९६१ में 'देव पुरस्कार' से सम्मानित।

हरगुलाल गुप्त : जन्म : १९३५ ई०, एम०ए०, पी-एच०डी०। उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर अंचल के करौला ग्राम (जन्म-भूमि) से सम्बद्ध वहाँ के प्रथम आंचलिक उपन्यास-कार के रूप में दो उपन्यास प्रकाशित और दो शीघ्र प्रकाश्य। कहानी, निबन्ध और आलोचना-सम्बन्धी १२ ग्रंथ। भारत की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में ७० शोध-निबन्ध प्रकाशित। पी० जी० डी० ए० वी० कॉलेज, नेहरूनगर में २० वर्ष तक हिन्दी-विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापक। सम्प्रति त्रिनिदाद-स्थित भारतीय हाई कमीशन में हिन्दी-अधिकारी।

गोविन्द मिश्र : जन्म : १ अगस्त, १९३९ अतर्रा (बाँदा) उत्तर प्रदेश। एम०ए० (अंग्रेजी)। दो वर्ष तक अंग्रेजी साहित्य का अध्यापन, १९६१ से भारतीय राजस्व सेवा में। सक्रिय लेखन १९६३ से, प्रकाशित कृतियाँ—उपन्यास १. वह/अपना चेहरा, २. उतरती हुई धूप, ३. लाल-पीली जमीन (ऑथर्स गिल्ड ऑफ इण्डिया से सम्मानित)। कहानी संग्रह —१. नये-पुराने माँ-बाप, २. अन्तः-पुर, ३. धाँसू, ४. रगड़ खाती आत्महत्याएँ।

कुबेरनाथ राय : हिन्दी तथा अंग्रेजी के प्रख्यात लेखक। सम्प्रति गवर्नमेंट डिग्री कॉलेज, नलबारी (असम) में प्राध्यापक।

शंकरदयाल सिंह : जन्म : २७ दिसम्बर, १९३७, साहित्यकार, पत्रकार, राजनीतिज्ञ। कई पुस्तकों के लेखक जैसे—(१) कुछ खयालों में : कुछ अभावों में, (२) इमरजेंसी : क्या सच क्या झूठ, (३) कितना क्या अनकहा (कहानी संग्रह), (४) आरपार की मंजिलें, (५) गांधी के देश से : लेनिन के देश में, (६) अनागत/ ऋषिकेश (कविता संग्रह)।

१९७१ से १८ जनवरी, १९७७ तक लोकसभा के सदस्य। सम्प्रति : 'मुक्त कण्ठ' के सम्पादक। अनेक सांस्कृतिक-साहित्यिक और सामाजिक संस्थाओं से सम्बद्ध।

नरेन्द्र कोहली : हिन्दी लेखक और कहानीकार। रामकथा को चार उपन्यासों के रूप में अभिनव ढंग से प्रस्तुत करने की योजना का संकल्प, 'दीक्षा', 'अवसर', 'संघर्ष की ओर' तथा 'युद्ध' नाम से अभी पूरा किया है। मोती-लाल नेहरू महाविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक।

सतेन्द्र नन्दन : …जी के प्रमुख कवि।

इन्दु जैन : …न्म : ५ अगस्त १९३५, नई दिल्ली प्रख्यात लेखिका …वयित्री, पत्र-पत्रिकाओं में लेखों तथा कविताओं …ा प्रकाशन, कुछ पुस्तकों का भी प्रकाशन। दिल्ली … कई सांस्कृतिक और साहित्यिक संगठनों से …म्बन्धित। इन्द्रप्रस्थ कालेज, दिल्ली में १९६२ … हिन्दी विभाग में प्रवक्ता।

सुखवीर विश्वकर्मा : …न्म : १० जनवरी, १९३८ (ग्राम खरड़, ज़िला (मुजफ्फरनगर), कुछ अर्से तक आकाशवाणी से सम्बद्ध रहे। 'दहकते-स्वर' (कविता-संग्रह) का संयुक्त संपादन तथा एक कविता-संग्रह 'रचना' प्रकाशित। संप्रति देहरादून से प्रकाशित साप्ताहिक 'वैनगार्ड' के हिन्दी-संस्करण के सम्पादक।

नाणल	: प्रो० ए० श्रीनिवासन राघवन (उपनाम : नाणल), जन्म : १६०५। अंग्रेजी साहित्य के अत्यंत सम्मानित अध्यापक जिन्होंने तमिल साहित्य को नयी युवा पीढ़ी में लोकप्रिय बनाया। कम्बन और रवीन्द्रनाथ को इन्होंने अपनी कृतियों में उच्च स्थान दिया है।
पुरुषोत्तम सदाशिव रेगे	: जन्म : १६१०। आधुनिक मराठी कविता को दिशा देने की ओर कार्य किया। अर्थशास्त्र के अवकाश-प्राप्त प्रोफेसर तथा प्राचार्य एलफिन्सटन कॉलेज, बम्बई। प्रकाशित कृतियाँ—'हिमशिख', 'डोला', 'दूसरा पक्षी' (कविताएँ), 'सावित्री' (उपन्यास)।
बाला मणियम्मा	: मलयालम की सुप्रसिद्ध कवयित्री।
रवीन्द्र भ्रमर	: जन्म : १६३४ जौनपुर (उत्तर प्रदेश)। एम०ए०, पी-एच०डी० (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)। हिन्दी कवि, लेखक और अध्यापक। 'रवीन्द्र भ्रमर के गीत' बहुचर्चित काव्य संग्रह; 'हिन्दी भक्ति-साहित्य में लोकतत्व' शोध-ग्रंथ; 'कविता-सविता', 'सहज कविता', 'समकालीन हिन्दी कविता', 'छायावाद' इत्यादि अन्य प्रकाशित कृतियाँ। अलीगढ़ मु० विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में वरिष्ठ रीडर।
अमृता भारती	: 'आज, कल, या सौ वर्ष बाद' की कवयित्री। अरविन्द आश्रम, दिल्ली की 'पश्यन्ती' पत्रिका से सम्बद्ध।
शंकर त्र्यंबक धर्माधिकारी	: जन्म : १८ जून, १८६६, मुलताई (म० प्र०)। दादा धर्माधिकारी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। तिलक विद्यापीठ नागपुर में आचार्य रहे। सर्वोदय-विचार के प्रकाण्ड व्याख्याता और मीमांसक। अनेक विचार-पुस्तकें प्रकाशित जिनमें 'लोक क्रांति के आयाम' सबसे नई और बहुचर्चित है।

अन्ध-अविश्वास !

(सम्पादकीय)

कोई बीस बरस पहले मैंने एक किताब पढ़ी थी। किताब का नाम था—'आइ बिलीव' (मेरा विश्वास है)। उस किताब में हमारे ज़माने के बीस विख्यात साहित्यकारों-विचारकों और वैज्ञानिकों की निष्ठाएँ ज़ाहिर करनेवाले लेखों का संग्रह किया गया था। इन लेखों में सबने अपने-अपने ढंग से यह बात तो कही ही थी कि अपने विश्वास के बारे में आश्वस्त-भावेन कुछ कह देना न तो ठीक है और न सरल।

सारी उम्र लिखने-पढ़ने के बाद और जी चुकने के बाद अगर कोई कहे कि हम आधुनिक जीवन-पद्धति की छानबीन करके यह बतायें कि हमें उसने क्या दिया है तो कुछ ऐसा [illegible] होता है जैसे उस समय जब हम किसी धारा को निर्भ्रान्त-भाव से या कि [illegible] जाने चाव से भरकर पार करने-न-करने तक की बात सोचे बिना तैरने चले [illegible], किसी ने एकाएक ज़ोर से चिल्लाकर यह पूछा है कि क्यों साहब, क्या [illegible] समझाने की मेहरबानी करेंगे कि किस तरह आप इस तेज़ धार को काटकर [illegible] जा पहुँचे हैं तो एक तरह का एकाकीपन हम पर उतरेगा और हम [illegible] गेंगे कि क्या जलाशय के बीचों-बीच स्थिर होकर इस सवाल का जवाब देना [illegible]

हमारा ख्याल [illegible] जाने पर जवाब देना होता है। न सोचा हो तो चाहे जैसी स्थिति में [illegible] को समवेत करके सोचना होता है और अधूरे ही सही, जवाब देने होते हैं। [illegible] हुए और दूसरे क्या कहेंगे क्या जाने; मैं सौ बातों के सिवा इस बात [illegible] ज़ोर देना चाहूँगा कि कोई भी ज़माना क्यों न हो सबसे महत्[illegible] स्थिति में प्रेम, भाईचारा और भाईचारे की दिशा को सँभा[illegible] तक कि वह स्वभाव बन जाये और हमारी हलचलें 'जो-[illegible] प्रतिबिम्बित करने लगें।

[illegible] की इकाई 'स्वदेशी' यानी पास का व्यक्ति और फिर पर[illegible] समाज व्यक्ति को और फिर व्यक्ति, व्यक्ति को केन्द्र बना[illegible] पर अपने को विश्व तक की परिधि पर आँख रखकर

संचालित करने की कोशिश करता था। चूल्हा, चक्की, चरखा, मूसल आदि समाज की यज्ञ-वेदी की पीठिका पर आसीन थे। इन्हीं के बल पर घर, खेत, बच्चे, पशु, जलाशय, फसलों का लहलहाना एक हद तक सुरक्षित रहता था और इसी के बल पर एक पीढ़ी का संचित ज्ञान दूसरी पीढ़ी तक सहज भाव से प्रवाहित होता रहता था और साथ ही नयी-नयी छोटी-बड़ी धाराओं को अपने में समाहित भी करता चलता था। इस समाज-संगति और समाज-संगीत को कोई एक कड़ी क्या, किसी एक स्वर को भी कोरे अंधविश्वास से बद्ध मानने की गलती हम न करें। सारे दकियानूस दिखाई पड़नेवाले विधि-निषेध, पूजा-पद्धतियाँ, कथा-गाथाएँ, रोज़मर्रा के उन अनुभवों और अनुभावों पर आधारित होती थीं जिनको अंग्रेजी में 'इम्पिरिकल' कहकर निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

धूल खाई हुई यह सभ्यता आदमी के दैनंदिन-जीवन और संस्कृति का पोषण करनेवाली होती थी। अगर इस विचार का दूसरा कोई प्रमाण न भी माना जाये तो यह एक प्रमाण काफ़ी माना जाना चाहिए कि ऐसी जीवन-पद्धति आज भी कई जगहों पर टिकी हुई है और जहाँ-जहाँ वह टिकी है वहाँ अन्न, वस्त्र, कला और साहित्य—आप चाहें तो उसे लोक-साहित्य कह लें—परम्परागत ढंग से ही सही, फलते-फूलते हैं और ये सारे तत्त्व अपनी विशिष्ट सभ्यता और संस्कृति को मानो दीवाली पर माँज-पोंछकर, उसका मानवीय स्वर अक्षुण्ण बनाये रखते हैं। पुराने समाज-जीवन के कभी न चुकनेवाले ये स्रोत, स्रोत बने रहकर जलाशय को भरा-पूरा रखते हैं। यहाँ जीवन संचित हो चुका है और संचित होता चला जाता है। यहाँ हम अपनी प्यास बुझा सकते हैं, ताप शांत कर सकते हैं और यहीं से आसपास में बंजरपन को सींचकर हरा-भरा बना दे सकते हैं। ऐसे समाज प्राचीन की जमीन में जड़ें डालकर और फैलाकर भविष्य की दिशाओं में, अ-काश, अपनी साफ हवा के झोके फेंकते रहते हैं।

जब कोई पुराना समाज किसी नयी आफ़त में पड़कर अपने पुराने 'दई-देवताओं' की मनौती मानता है तो गोया वह अपना यह विश्वास घोषित करता है कि पहले भी ऐसी आफ़तें आई होंगी और वे 'विश्वास के बल पर' पार की गई होंगी। यानी पुराने समाज, एक जीवन को न तो परिपूर्ण मानते हैं, न पर्याप्त। और वे यह समझने की गलती या अहंकार भी नहीं करते कि विच्छिन्न रहकर कुछ करनेवालों से कुछ बात बन जायेगी। वे अपने को पुराने से जोड़े रखकर आगे की संभावनाओं से युक्त करते हैं। इसलिए जब हम आधुनिकता को सोचें तो केवल आधुनिक को ही न सोचें। जहाँ हैं उसी बिन्दु को न सोचें, बल्कि उस समूचे सिंधु को सोचें जिसमें हम कहीं हैं। समझना चाहिए कि हर नये के तल में पुराने की सरस्वती अन्तर्लीन भाव से प्रवाहित है। इसलिए अन्धविश्वास की ओर सतर्क रहने के साथ-साथ हमें अपने-आपको अन्ध-अविश्वास की ओर से भी सतर्क रहना है।

लेव तोलस्तोय : विश्व के महान् साहित्यकार और चिन्तक

हरीश रायजादा

साहित्यकार और नैतिक दार्शनिक के रूप में तोलस्तोय उन महान् मनीषियों में हैं जिन्होंने अपने चिंतन और अपनी प्रतिभाशाली रचनाओं द्वारा संसार की संस्कृति को समृद्ध किया और मानवता के कलात्मक विकास को आगे बढ़ाया। साहित्यिक कलाकार के रूप में उनकी कीर्ति आज भी अक्षुण्ण है। अपने सार्वभौमिक गुणों के कारण उनकी [illegible]नियाँ यूरोप में ही नहीं, बल्कि समस्त साहित्य-जगत् में अद्वितीय हैं। माक्सिम [illegible] अपने संस्मरणों में लिखा है कि तोलस्तोय के विषय में बात करते हुए लेनिन [illegible] ने कहा, "कैसा विशालकाय व्यक्ति? कैसा महा-पुरुष! आह, यह [illegible] तुम्हारे लिए, भाई मेरे।" फिर उन्होंने मेरी ओर तिरछी नजर से देखा [illegible] "यूरोप में ऐसा कौन है जिसे उनके समकक्ष रखा जा सके?" और तुरन्त [illegible] अपने-आप उत्तर दिया, "कोई नहीं।" तुर्गनेव ने जो स्वयं एक महान् लेखक [illegible] अपनी मृत्यु-शय्या से तोलस्तोय की प्रशंसा करते हुए कहा था, "ऐसा कलाकार [illegible]नीय प्रतिभा कभी नहीं रही और न इस समय हमारे बीच में है। मुझे, उन[illegible] लिए, एक कलाकार समझा जाता है, लेकिन उनके समकक्ष मैं क्या हूँ? [illegible]िक यूरोप के साहित्य में उनका सानी कोई नहीं।" समय के परिवर्तन ने [illegible]ज को धूमिल नहीं होने दिया है, बल्कि हमारी दृष्टि में [illegible]नता [illegible] भी बढ़ा दिया है।

[illegible] दार्श[illegible] रूप में तोलस्तोय उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध और बी[illegible] पा[illegible]सार की एकमात्र सबसे बड़ी आध्यात्मिक शक्ति थे। [illegible] क्योंकि [illegible] समाज के अन्दर सभी प्रकार की नैतिक मान्यताओं का ह[illegible] था, [illegible] "यूरोप की अन्तरात्मा" कहकर उनका आह्वान किया।

हरीश रायज़ादा

आज के युग में जबकि मनुष्य तीसरे महायुद्ध की विभीषिका से पीड़ित है और विनाश के कगार पर खड़ा हुआ है, उनके प्रेम, अहिंसा, त्याग और सदाचार के नैतिक आदर्श सम्भवत: पहले से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कौन नहीं जानता कि विज्ञान के विध्वंसकारी अनुसंधान मानव-जीवन में सुख और शान्ति लाने के लिए कितने भ्रामक और निरर्थक साधन हैं ? विश्व के कल्याण के लिए आज हमें मनुष्य के हिंसात्मक साम्राज्य के स्थान पर सदाचार और नैतिक आस्थाओं पर निर्भर "ईश्वरीय साम्राज्य" की, जिसकी कल्पना तोलस्तोय ने की, आवश्यकता है।

राजकुमार सिद्धार्थ के सदृश तोलस्तोय भी अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के सहारे साधारण स्थिति से ऊँचे पद की ओर नहीं बढ़े, बल्कि अपनी गहरी संवेदना के कारण ऊँची स्थिति से जन-साधारण की श्रेणी में आये। वे ९ सितम्बर, १८२८ को यास्नाया पोल्याना नामक जागीर में रूस के एक कुलीन घराने में पैदा हुए थे। उनका घर एक महल की तरह था। उसमें चालीस से अधिक कमरे थे, अनगिनत दास थे और चारों ओर सुख और समृद्धि का साम्राज्य था। यास्नाया पोल्याना की जागीर उनकी माता मारिया निकोलायेवना वोलकोन्सकाया को जिनका सम्बन्ध एक राजघराने से था, स्त्री-धन के रूप में मिली थी। उनके पिता ग्राफ निकोलायेविच ईलीच तोलस्तोय एक प्राचीन कुलीन वंश के थे और नेपोलियन के युद्ध में उन्होंने कर्नल के रूप में भाग लिया था। जब वे डेढ़ वर्ष के थे उनकी माँ का निधन हो गया और जब वे ९ वर्ष के थे उनके पिता भी नहीं रहे। माँ की मृत्यु के बाद तोलस्तोय, उनके तीन भाइयों और बहन मार्या का पालन-पोषण उनके दूर के रिश्ते की बुआ टाशियाना ऐलेक्जेंड्रोवना ऐगाल्स ने किया। वे एक "दृढ़, उत्साही और आत्म-त्याग करनेवाली चरित्रवान् महिला थीं।" तोलस्तोय के जीवन पर उनका बहुत प्रभाव पड़ा था। अपने संस्मरण में उन्होंने लिखा है, "उन्होंने मुझे पहले-पहल, बचपन में प्रेम के आध्यात्मिक आनन्द का पाठ पढ़ाया। यह शिक्षा उन्होंने पुस्तकों या उपदेशों द्वारा नहीं दी, बल्कि अपने सम्पूर्ण जीवन से उन्होंने मुझे प्रेम से लबालब भर दिया।" तोलस्तोय ने उनका चित्रण 'युद्ध और शान्ति' उपन्यास में नम्र और शान्त स्वभाव की आत्म-त्याग करनेवाली सोन्या के रूप में किया है।

तोलस्तोय की प्रारम्भिक शिक्षा एक अभिजात वर्ग के बालक के सदृश विदेशी शिक्षकों की देखरेख में हुई। मनोरंजन के लिए उन्हें घुड़सवारी, नृत्यकला, शिकार खेलना और ताश खेलना सिखाया गया। उच्च शिक्षा के लिए उन्होंने १८४४ में कज़ान विश्वविद्यालय के पूर्वी भाषाओं के विभाग में प्रवेश लिया। किन्तु इसमें उनका मन न लगा और एक वर्ष बाद वे कानून के विभाग में चले गये। विश्वविद्यालय की तत्कालीन शिक्षा से असन्तुष्ट होने के कारण वे अध्ययन में अपना मन न लगा सके और अपनी पढ़ाई समाप्त किये बिना ही कज़ान से १८४७ में लौट

आयं। उनकी रुचि विद्याध्ययन से अधिक जीवन और प्रकृति के रहस्यों के अध्ययन में थी। पाँच वर्ष की छोटी आयु में ही उन्होंने अनुभव किया कि "जीवन कोई खेल नहीं वरन् गंभीर वस्तु है।" उन्हीं दिनों उनके बड़े भाई निकोलस ने उनसे और अन्य भाइयों से कहा कि उन्हें एक ऐसा मंत्र मालूम है, जिसे यदि बता दिया जाये तो संसार में कोई भी दुःख न रहे, कोई बीमार न हो, किसी को कोई कष्ट न हो, कोई आदमी किसी से नाराज न हो, सब एक-दूसरे से प्रेम करें और परस्पर धर्म-भाई बन जायें। निकोलस ने कहा कि उन्होंने वह मंत्र एक हरी डाली पर लिखकर एक खड्डे के किनारे सड़क के पास गाड़ दिया है। तोलस्तोय को हरी डाली पर लिखे इस मंत्र के अस्तित्व पर पूर्ण विश्वास था और वे समझते थे कि संसार में शान्ति और भ्रातृत्व का विकास सम्भव है। अपनी वृद्धावस्था में उन्होंने लिखा, "जैसा मुझे उस समय विश्वास था कि ऐसी एक छोटी हरी डाली विद्यमान है जिस पर मनुष्यों के समस्त दुर्गुण दूर करने और मानव-कल्याण प्राप्त करने का मंत्र लिखा है, वैसे ही मुझे आज भी उस सत्य के अस्तित्व पर विश्वास है, जिसे एक दिन सभी मनुष्य जान सकेंगे और उसके द्वारा प्रत्याशित सभी बातें पा सकेंगे।" बाद में तोलस्तोय को उनकी इच्छानुसार उसी स्थान पर जहाँ कि वह डाली गाड़ी गई थी, दफ़नाया गया।

तोलस्तोय बहुत ही स्वाभिमानी और संवेदनशील थे और प्रशंसा पाने की उनमें बड़ी लालसा थी। उन्होंने लिखा है—"मैं चाहता था कि सब लोग मुझे जानें और प्यार करें।" लेकिन [illegible] यह भी जानते थे कि एक ऐसे व्यक्ति के लिए पृथ्वी पर कोई सुख नहीं है जिसकी [illegible] चौड़ी हो, ओठ मोटे हों और आँखें भूरी हों" जैसा कि उनके साथ था। [illegible] कुरूपता के कारण इतनी मानसिक पीड़ा थी कि वे अपनी जीवन-लीला [illegible] कर देना चाहते थे। अपनी दयनीय दशा के साथ समझौता करना उन्हें [illegible] नहीं था, इसलिए उन्होंने अपनी बाह्य कुरूपता की क्षतिपूर्ति आन्तरिक [illegible] करने का निश्चय किया। वे अपने जीवन में पूर्णता लाने के लिए प्रयास [illegible]। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वे हर प्रकार की यातना सहन करने [illegible] थे। बहुधा वे अपने नंगे शरीर पर उस समय तक कोड़े बरसाते रहते [illegible] कि पीड़ा से उनकी आँखों में आँसू न छलक उठते। बेंजमिन फ्रैंकलिन के [illegible] अनुकरण करते हुए उन्होंने अल्पायु से ही डायरी रखना प्रारम्भ कर [illegible] जिसमें वे अपनी भूलों और अच्छे बनने के उन संकल्पों को [illegible] बार-बा[illegible] करते रहते थे, लिखा करते थे। उनके नैतिक उत्थान में [illegible] का जटिल और असंगतिपूर्ण चरित्र था। एक ओर वे [illegible] प्रकृ[illegible] के कारण सदैव जीवन के उद्देश्य की खोज और अपने [illegible] नैतिक [illegible] के लिए चिन्तित रहते और दूसरी ओर विलासी जी[illegible] की प्रबल आकांक्षा उन्हें विषयोपभोग की ओर आक-

षित करती। जहाँ उनका असंयमी व्यक्तित्व उन्हें जुआ खेलने, मद्यपान करने, दुराचारिणी स्त्रियों से सम्बन्ध रखने की ओर प्रेरित करता, वहीं उनकी आध्यात्मिक अन्तश्चेतना उन्हें इन दुर्वासनाओं के लिए धिक्कारती और अनुतापित करती। उनके इस अन्तर्विरोध का संकेत हमें उस घटना से मिलता है जिसमें उनके भाई उन्हें पहली बार एक वेश्यालय में ले गये और अपनी वासना की तृप्ति के उपरान्त वे वेश्या के बिस्तरे के समीप खड़े पश्चात्ताप के आँसू बहाते रहे। आध्यात्मिक उत्कर्ष की आकांक्षा और वासनात्मक प्रेम के प्रति आकर्षण— दोनों प्रवृत्तियों का द्वन्द्व उनके युवा-जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग बना रहा और वे सदैव भोग और नैतिक उत्थान के अतिवाद में झूलते रहे। अपने उस समय के जीवन की चर्चा करते हुए उन्होंने अपनी रचना, 'मेरी मुक्ति की कहानी' (कन्फैशन) में लिखा है, "बिना त्रास, घृणा और हृदय-वेदना के मैं उन वर्षों की याद नहीं कर सकता। मिथ्या भाषण, लोगों को लूटना, हर तरह का व्यभिचार, मद्यपान, हिंसा, खून— मतलब यह कि कोई ऐसा अपराध नहीं था जो मैंने न किया हो।" उन्हें आश्चर्य था कि जब-जब वे नैतिक रूप से भला बनने का प्रयास करते लोग उनका उपहास करते; लेकिन ज्यों ही वे तुच्छ वासनाओं की ओर झुकते, उनकी प्रशंसा की जाती और उन्हें बढ़ावा दिया जाता।

जहाँ तोलस्तोय के अन्दर पाशविक प्रवृत्तियों को छोड़ने और अपने को पूर्ण बनाने की प्रबल आकांक्षा थी, वहीं धर्म-सिद्धान्तों के अन्धानकरण से उन्हें बहुत घृणा थी। उन्होंने देखा था कि धार्मिकता का सबसे अधिक ढोंग रचनेवाले व्यक्ति ही बड़े दुराचारी, निर्मम और बुद्धिहीन थे। योग्यता, सचाई, विश्वसनीयता, शील स्वभाव और सदाचरण बहुधा नास्तिकों में ही पाया जाता था। जब वे दस वर्ष के ही थे तभी से उनमें धर्म के प्रति अनास्था का उदय प्रारम्भ हो गया था। उस समय अपने स्कूल के एक छात्र ब्लादीमीर मिलयटिन की इस सूचना से कि नई खोजों ने यह प्रमाणित किया है कि ईश्वर नाम की कोई चीज नहीं है और उसके बारे में उन लोगों को जो-कुछ सिखाया जाता है वह सब काल्पनिक है, वे बहुत उत्तेजित हुए थे। वे समझते थे कि ऐसा सम्भव हो सकता है। लड़कपन में वाल्टेयर की रचनाओं में धर्म के उपहास के विषय में पढ़ते हुए उन्हें बड़ा आनन्द आता था। पन्द्रह साल की आयु में दार्शनिक ग्रंथों के अध्ययन के फलस्वरूप भी उनमें धार्मिक-सिद्धान्तों के प्रति आस्था कम हो गई। उन्होंने चर्च जाना और उपवास करना छोड़ दिया। उन दिनों उनके विचारों में एक अजीब ढंग की असंदिग्धता थी। सदाचार और नैतिक आदर्शों में विश्वास करते हुए भी वे ईश्वर के अस्तित्व को न तो स्वीकार ही करते थे और न अस्वीकार ही।

कज़ान विश्वविद्यालय में उन्होंने रूसो की सभी रचनाएं पढ़ीं और वे उनके

विचारों से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उनकी एक देवता की तरह पूजा करने लगे और धार्मिक क्रॉस के स्थान पर उन्हीं के चित्र को अपने गले में लटकाने लगे। कज़ान से लौटने के बाद वे अपनी जायदाद यास्नाया में रहने लगे। यहाँ उन्होंने रूसो के सिद्धान्तों का उपयोग किसानों की दशा सुधारने में किया। वे अपने कार्य में सफल न हो सके क्योंकि सदियों से उत्पीड़ित रूसी किसानों के लिए यह विश्वास करना कि कोई जमींदार सच्चे हृदय से उनके हित की बात सोच सकता है, संभव न था। इसलिए वे अपने इस युवा जमींदार को भी संदेह की दृष्टि से देखते थे। अपने इन अनुभवों से तोलस्तोय को सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि वे रूस के किसानों की आर्थिक दुर्दशा और उनके शोषण के विषय में जान सके। यही नहीं उन्हें किसानों की भावनाओं और उनके चरित्र की महानता समझने का भी समुचित अवसर प्राप्त हुआ। इसलिए आगे चलकर वे अपने कुलीन वर्ग से दूर हटते हुए, पूँजीवादी शासन से उत्पीड़ित रूस के पितृ-सत्तात्मक किसान वर्ग के लाखों-लाख जन-समूह के विचारों और भावनाओं को अपनी कलात्मक कृतियों में व्यक्त करने में सफल हुए। वर्गों की विषमता को न समझते हुए भी उन्होंने किसानों को कंगाल बनानेवाले और उन्हें आर्थिक दासता में जकड़नेवाले जार के निरंकुश शासन के विरुद्ध अपनी आवाज़ बुलन्द की।

तोलस्तोय ने अपना साहित्यिक जीवन 'बीते हुए कल की कहानी' नामक रचना से जिसे उन्होंने [illegible] न लिखा, प्रारम्भ किया। यह कृति अधूरे और अपरिष्कृत पाण्डुलेख के रूप में उ[illegible] है। इस कहानी में वे "जीवन के एक दिन के आंतरिक पक्ष" का चित्रण कर[illegible] थे जिससे कि वे अपनो उन इच्छाओं और अस्पष्ट विचारों और उनके [illegible]र्ष का, जो कि प्रतिदिन के अनुभवों द्वारा उत्पन्न होते हैं, अध्ययन कर सके। [illegible] इस कृति को पूरा कर लेते तो हमें वह रचना मिल जाती जिसे जेम्स ज[illegible]त वर्षों बाद चेतना प्रवाहात्मक शैली में 'यूलिसिस' के रूप में लिखा।

१८५१ के [illegible]ीने में तोलस्तोय काफकाज़ (काकेशस) चले गए और रूसी सेना में स्वयं[illegible] रूप में काम करने लगे। उनके बड़े भाई निकोलस वहीं सेना में एक [illegible] नियुक्त थे। काफकाज़ के लुभावने पर्वतीय दृश्यों ने प्राकृतिक सौंदर्य के [illegible] अन्तर्जात उत्साह को उद्दीप्त कर दिया और उनके हृदय में युद्ध के रूप [illegible]क्षित होनेवाली मनुष्य की निर्ममता के प्रति रोष और घ[illegible] इन अनुभवों को उन्होंने 'आक्रमण' और 'जंगल की [illegible] चित्रित किया। १८५२ में लिखी 'आक्रमण' कहानी में [illegible] सर्वप्रथम [illegible] के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई : "ऐसे स्थान पर भी वे [illegible] भावना तथा अपने साथियों को नष्ट करने की लालसा

बनाये रख सकते हैं ?" उन्हीं दिनों तोलस्तोय ने आत्मकथात्मक 'त्रयी' के दो भाग 'बचपन' (१८५२) और 'किशोरावस्था' (१८५४) प्रकाशित किए। जैसा उन्होंने अपनी 'मेरी मुक्ति की कहानी' में लिखा है, उस समय उन पर अंग्रेजी उपन्यासकार लॉरेंस स्टर्न और स्विस उपन्यासकार रोडोल्फ टौफर का बहुत प्रभाव था। जब उनकी रचना 'बचपन' पुश्किन द्वारा संस्थापित एक प्रगतिशील पत्रिका 'सामयिकी' ('सोव्रेमैन्निक') में प्रकाशित हुई तो रूसी साहित्य-क्षेत्र में नये लेखक की धूम मच गई। तुर्गनेव और दास्तायव्स्की-जैसे प्रसिद्ध लेखकों ने उनकी प्रशंसा की और वे रूस के शक्तिशाली लेखकों में गिने जाने लगे। आत्मकथा के रूप में लिखे गए इन उपन्यासों में तोलस्तोय की गहरी मनोवैज्ञानिक दृष्टि तथा आत्म-संघर्ष और सूक्ष्मतम मानवीय भावनाओं का कुशल चित्रण करने की उनकी क्षमता का परिचय मिलता है।

काफकाज़ से लौटने पर तोलस्तोय को डैन्यूब सेना में भेज दिया गया जहाँ तुर्कों के साथ युद्ध हो रहा था। वहाँ से नवम्बर, १८५४ में वे क्रीमिया भेजे गए और वहाँ उन्होंने सेवास्तापोल के ऐतिहासिक घेरे में भाग लिया। सेवास्तापोल के बचाव-युद्ध का यथार्थ और मार्मिक वर्णन उन्होंने सेवास्तापोल 'दिसम्बर, १८५४ में' 'सेवास्तापोल मई, १८५५ में' और 'सेवास्तापोल अगस्त, १८५५ में' शीर्षक अपनी तीन कथाओं में किया। इन कहानियों में उन्होंने युद्ध का उसके भयानक और पीड़ा देनेवाले वास्तविक रूप में चित्रण किया और साधारण रूसी सैनिकों की महान् नैतिक शक्ति का परिचय दिया। इन कहानियों में उन्होंने युद्ध के बाहरी रूप के वर्णन की ओर इतना ध्यान नहीं दिया जितना इस बात के वर्णन में कि युद्ध के वातावरण में लोग कैसा व्यवहार करते हैं और कैसे स्वभाव का प्रदर्शन करते हैं। इन कथाओं में और बाद में अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'युद्ध और शान्ति' में उन्होंने ऐसे चरित्रों को अंकित किया जो बाहर से तो साधारण दिखलाई पड़ते हैं पर जिनमें अदम्य उत्साह और महान् नैतिक शक्ति होती है। जिस गहन वास्तविकता से उन्होंने युद्ध और सैनिकों के मनोविज्ञान का चित्रण इन कहानियों में किया उसकी सभी समकालीन लेखकों ने प्रशंसा की। उन्हें पढ़कर तुर्गनेव ने तोलस्तोय के विषय में लिखा, "यह मदिरा अभी नई है किन्तु जब वह तैयार होगी तो देवताओं के उपयुक्त होगी।" उस समय के प्रसिद्ध कवि न० अ० नेक्रासोव ने उनका "एक बाज़ अथवा शायद एक गरुड़" कहकर अभिनन्दन किया। वास्तव में उनमें बाज़-जैसी कल्पना की उड़ान थी और गरुड़-जैसी पैनी दृष्टि जिससे वे जीवन के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पहलुओं को बड़ी गहराई से देख लेते थे और उनका बड़ी कुशलता से वर्णन करते थे।

नवम्बर, १८५५ में तोलस्तोय पीतरबुर्ग आए जहाँ रूस के सुप्रसिद्ध लेखकों —तुर्गनेव, नेक्रासोव, गोंचारोव, चैर्नेश्येवस्की आदि ने उनका एक महान् साहित्यकार

के रूप में स्वागत किया। ये सभी लेखक प्रगतिशील पत्रिका 'सामयिकी' से सम्बद्ध थे। तोलस्तोय स्वयं इन बुद्धिजीवियों के दृष्टिकोण से अधिक प्रभावित नहीं हुए क्योंकि उन्होंने देखा कि वे अपने को विशेषाधिकृत श्रेणी का पुरुष समझते थे और केवल प्रबुद्ध वर्ग के पाठकों के लिए ही साहित्य-सर्जना करना उपयुक्त समझते थे। जन-साधारण की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए लोक-कल्याणकारी साहित्य के सृजन के प्रति उनमें तनिक भी उत्साह न था। इसलिए चैर्नेश्येवस्की को सम्मान की दृष्टि से देखते हुए भी वे 'सामयिकी' की साहित्यिक गोष्ठी के प्रति आकर्षित नहीं हुए। अपने पीतरबुर्ग के एक वर्ष के निवास में उन्होंने आत्मकथात्मक 'त्रयी' के तीसरे उपन्यास 'यौवन' (१८५६) की रचना की और 'तूफान' तथा 'ज़मींदार की सुबह' नामक कहानियाँ लिखीं। 'ज़मींदार की सुबह' कहानी में उन्होंने यास्नाया पोल्याना में दास-किसानों के सम्पर्क में बिताये जीवन के अनुभवों का रोचक वर्णन किया। चैर्नेश्येवस्की ने इस कहानी की प्रशंसा करते हुए लिखा था, "किसान की बुद्धि और समझ का तोलस्तोय ने वैसा ही सच्चा तथा यथार्थ वर्णन किया है जैसा कि किसी सिपाही का। किसान की झोंपड़ी का वह उतना ही अभ्यस्त और परिचित था जितना कि कज़ाक सिपाही के तम्बू का।"

१८५६ के अन्त में तोलस्तोय सेना की नौकरी से मुक्त होकर छह मास के लिए विदेश चले गए। जुलाई, १८५७ में वहाँ से लौटने के बाद उन्होंने अपना समय मास्को और यास्नाया पोल्याना में बिताया। उन दिनों उन्होंने 'कुटुम्ब का सुख' उपन्यास और 'तीन मृत्युएँ' कहानी लिखी। 'कुटुम्ब का सुख' अंग्रेजी उपन्यासों की शैली में लिखा गया है और इसकी कहानी का आधार तोलस्तोय और वालेरिया व्लादीमिरोव्ना आर्सेनेवा का प्रेम-सम्बन्ध है। एक समय तोलस्तोय का विचार उनसे विवाह करने का था। 'तीन मृत्युएँ' कहानी पर रूसो के सिद्धान्तों के प्रभाव की स्पष्ट झलक मिलती है। यहाँ वे पहली बार जीवन और मृत्यु की समस्या पर गम्भीरता से विचार करते हुए दिखाई देते हैं। कहानी में मालकिन, किसान और वृक्ष की मृत्यु का वर्णन करते हुए वे बताते हैं कि जैसे-जैसे हम प्रकृति से दूर होते जाते हैं, वैसे-वैसे हमारा जीवन उद्देश्यहीन और खोखला होता जाता है। न हम जीवन का ही वास्तविक आनन्द उठा पाते हैं और न मृत्यु का ही शान्तचित्त से सामना कर पाते हैं। इसलिए तीन मृत्युओं में मालकिन की मृत्यु सबसे अधिक दुःखदायी है क्योंकि विलासी जीवन में व्यस्त रहने के कारण उसका प्रकृति से सम्बन्ध टूट गया है। किसान की मृत्यु उसके प्रकृति के सान्निध्य के कारण शान्तिपूर्ण है। सबसे आनन्दपूर्ण मृत्यु वृक्ष की है जो प्रकृति का एक अंग बनकर जीवन बिताता है। 'खोलस्तोमेर : एक घोड़े की कहानी' (१८६१) में भी तोलस्तोय ने यही दिखाया है कि प्रकृति से दूर होकर मनुष्य ने कैसे अपने जीवन को भ्रष्ट और निर्मम

बना लिया है। इस कहानी में उनका व्यंग्य तीखा हो गया है और उन्होंने मनुष्य के जीवन के बारे में एक घोड़े की प्रतिक्रिया का चित्रण करते हुए दिखलाया है कि जहाँ प्रकृति के सिद्धान्तों का पालन करने के कारण घोड़े का अपना जीवन सुखी रहता है, वही प्रकृति से दूर हो जाने के कारण उसके मालिकों का जीवन विलासी, भ्रष्ट और दयनीय हो जाता है।

१८५९ में तोलस्तोय ने गरीब किसानों के बच्चों को मुफ्त शिक्षा देने के लिए यास्नाया पोल्याना में एक स्कूल खोला। वे जनता के लिए साहित्य-सृजन करने से पहले जनता को उस साहित्य के पढ़ने योग्य बनाना आवश्यक समझते थे। किसानों की दशा सुधारने के लिए भी उन्हें शिक्षित बनाना आवश्यक था। पश्चिमी यूरोप के देशों की शिक्षा-पद्धति का अध्ययन करने के लिए वे १८६०-६१ में फिर एक बार इन देशों का भ्रमण करने के लिए गए। उन्हीं दिनों उनके बड़े भाई निकोलस की मृत्यु ने उन्हें गहरी मानसिक वेदना पहुँचाई। 'युद्ध और शान्ति', 'आन्ना कारेनिना' और 'इवान इल्यीच की मृत्यु' रचनाओं में उन्होंने मृत्यु के दृश्यों का हृदयद्रावक चित्रण इसी अनुभव के आधार पर किया है। विदेश से लौटने के पश्चात् उन्होंने ग्रामीण बच्चों की शिक्षा को बड़े पैमाने पर चलाना शुरू किया। विदेशी स्कूलों की शिक्षा-पद्धति और शिक्षा-विशेषज्ञों के विचारों के अध्ययन से उन्हें संतोष नहीं हुआ, इसलिए उन्होंने 'स्वतन्त्र शिक्षा' के आधार पर नये ढंग से शिक्षा देना आरम्भ किया। अपने शिक्षा-सम्बन्धी विचारों के प्रचार के लिए वे 'यास्नाया पोल्याना' नामक पत्र भी निकालने लगे। शिक्षा-सम्बन्धी उनके कितने ही सिद्धान्त आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का प्रमुख अंग बन गए है। उनकी धारणा थी कि शिक्षा को जनता की आवश्यकताओं के उपयुक्त तथा स्वतन्त्र और स्वैच्छिक होना चाहिए। वे अपने स्कूल में छात्रों और उनके माता-पिता को अपनी रुचि के अनुसार विषय-चयन करने को कहते और उन विषयों को ही स्वतन्त्र वाद-विवाद के ढंग से उन्हें पढ़ाते। इसके साथ ही उन्होंने अपनी शिक्षा-प्रणाली में परीक्षा तथा हर प्रकार के मूल्यांकन का बहिष्कार कर दिया था। न किसी विद्यार्थी को पुरस्कार दिया जाता और न किसी को कोई दण्ड। तोलस्तोय द्वारा किसानों के उद्धार के लिए किये जानेवाले कार्यों को अधिकारी संदेह की दृष्टि से देखने लगे थे। उन्हें भय था कि तोलस्तोय का सम्बन्ध क्रान्तिकारियों से तो नहीं है और वे किसानों को सरकार के विरुद्ध भड़काते तो नहीं है। १८६२ में उनकी अनुपस्थिति में पुलिस ने उनके घर की तलाशी ली। लौटने पर जब उनको इसका पता चला तो क्रोधित होकर उन्होंने बादशाह ज़ार के यहाँ सूचना भिजवाई कि "मैं अपना पिस्तौल सदैव भरा हुआ रखता हूँ। जो भी पुलिस-अफसर मेरे यहाँ आयेगा, वह इसका शिकार होगा।" इस घटना से तोलस्तोय इतने विक्षुब्ध हुए कि उन्होंने रूस छोड़कर लन्दन

जा बसने का विचार किया। बाद में उन्होंने शिक्षा-कार्य और पत्रिका का प्रकाशन बन्द कर दिया। उन दिनों बच्चों के लिए लिखी उनकी पाठ्य-पुस्तकें आज भी महत्त्वपूर्ण समझी जाती है।

१८६२ में तोलस्तोय ने मास्को के एक डाक्टर की पुत्री सोफिया आन्द्रेयेवना बेरस से विवाह कर लिया। उस समय उनकी पत्नी की आयु सत्रह वर्ष की थी और उनकी अपनी अवस्था उनसे दूनी थी। पन्द्रह वर्ष तक उन्होंने बहुत ही सुखमय पारिवारिक जीवन बिताया। गार्हस्थ आनन्द ने उनके आध्यात्मिक संघर्ष को शांत कर दिया और साहित्यिक कला-कृतियों के सृजन के लिए उन्हें प्रेरणा दी। श्रीमती बेरस ने एक आदर्श पत्नी के रूप में उनके साहित्य-निर्माण कार्य में पूर्ण सहयोग प्रदान किया। वे उनकी सुविधाओं का पूरी तरह ध्यान रखतीं और बहुधा उनकी रचनाओं की पाण्डुलिपि तैयार करने में व्यस्त रहती। इस काल में उन्होंने 'कज़ाक' उपन्यास जिसे १८५३ में लिखना शुरू किया था, पूरा किया, और 'पोलीकुशिका' कहानी लिखी, जिसे पढ़कर तुर्गनेव ने कहा था, "पोलीकुशिका पढ़ी, इस उत्कृष्ट प्रतिभा से चकित हुआ, तुम सचमुच ही कलाकार हो! कलाकार!" और संसार को दो महान् उपन्यास, 'युद्ध और शान्ति' और 'आन्ना कारेनिना' भेंट किए। यह कलाकार तोलस्तोय के चरमोत्कर्ष का समय था।

'कज़ाक' में तोलस्तोय ने फौजी नौकरी के समय काफकाज के मनोरम प्राकृतिक वातावरण के सान्निध्य में बिताये गये अपने अनुभवों की काव्यपूर्ण अभिव्यक्ति की है। उपन्यास के नायक ओलेन के चरित्र में युवा तोलस्तोय और उनके विचारों की झलक मिलती है। ओलेन प्रकृति की गोद में पले हुए कज़ाक स्त्री-पुरुषों, येरोशका, लूकोशका, सुन्दरी मारियांका आदि के स्वतन्त्र, सरल और सदाचारी जीवन की ओर आकर्षित होता है और उन्हीं के सदृश सरल जीवन बिताना और उनसे घुल-मिल जाना चाहता है, परन्तु वह अपने शहरी जीवन और अभिजात वर्ग के संस्कारों के कारण ऐसा करने में असफल रहता है। 'तीन मृत्युएँ' और 'खोली तोमेर' कहानियों की तरह इस कृति पर भी रूसो के विचारों की छाप स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती है।

'युद्ध और शान्ति' (१८६३-६९) विश्व के उपन्यास-साहित्य का चरमबिंदु है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी उपन्यासकार फ्लावियर ने इसे पढ़कर तुर्गनेव को लिखा, "यह प्रथम श्रेणी की रचना है। कैसा कलाकार, और कैसा मनोवैज्ञानिक! पहले दो भाग असाधारण महत्त्व के है, कितने ही स्थल शेक्सपियर की प्रतिभा के उपयुक्त है। पढ़ते समय भावावेश में आकर कई अवसरों पर मेरे हृदय से चीख निकल गई और देर तक उसका प्रभाव बना रहा। हाँ, यह एक शक्तिशाली कृति है—अत्यन्त शक्तिशाली।" बहुत वर्षो बाद प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक गाल्सवर्दी ने इसे संसार का

श्रेष्ठतम उपन्यास बताया। इसकी कल्पना एक महाकाव्य के रूप में की गई है। तोलस्तोय ने स्वयं इसे होमर के 'इलियड' के समान बताया। मानव-जीवन का इतना विस्तृत और व्यापक चित्र हमें संसार की और किसी कृति में नहीं मिलता।

तोलस्तोय ने इस उपन्यास में नेपोलियन के विरुद्ध १८१२ के रूसी युद्ध की पृष्ठभूमि पर रूसी समाज के सभी वर्गों का प्रभावशाली चित्रण किया है। एक ओर युद्ध के रोमांचकारी दृश्य हैं जिनमें हम अपने को अजेय समझनेवाले अहंकारी और निरंकुश आक्रमणकारी नेपोलियन और उसकी सेना के निर्मम और सशक्त हमलों को देशभक्ति से ओतप्रोत रूसी जनता के शौर्य और पराक्रम द्वारा विफल होते हुए देखते हैं, और दूसरी ओर शान्तिपूर्ण जीवन के ऐसे दृश्य हैं जिनमें हम रूसी जनता को अपना सामान्य जीवन बिताते और अपनी व्यक्तिगत तथा पारिवारिक समस्याओं से निपटते हुए देखते हैं। दोनों ही तरह के दृश्य एक-दूसरे से इस तरह जुड़े हुए हैं जैसे सुख-दुःख जीवन का अभिन्न अंग हैं। इस उपन्यास में पाँच सौ से अधिक चरित्रों का चित्रण किया गया है जिनमें एक सिपाही से लेकर सेनापति तक और साधारण किसान से लेकर शासक तक, सभी श्रेणी, वर्ग, पद और व्यवसाय के चरित्रों का जीवन्त वर्णन है। तोलस्तोय में मानवी चरित्रों के चित्रण की अद्भुत प्रतिभा है। वे अपने पात्रों के बाह्य जीवन और क्रिया-कलापों का ही यथार्थ चित्रण नहीं करते वरन् उनकी आन्तरिक भावनाओं, विचारों और मानसिक संघर्ष का भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हैं जिससे कि प्रत्येक चरित्र सजीव होकर हमारे सम्मुख उभरता है। इन चरित्रों में सबसे महत्त्वपूर्ण हैं---सुन्दर, सुसंस्कृत और गम्भीर राजकुमार आन्द्रे, सत्य की खोज के सपनों में खोया रहनेवाला पियरे बेज़ुहोव, व्यवहार-कुशल निकोलाई रस्तोवा, अवसरवादी राजकुमार वसीली कुरागिन, ईमानदार और चरित्रवान किसान प्लातन करतायेव जो पियरे बेज़ुहोव का मार्गदर्शन करता है, सुन्दर, शालीन और भावुक नताशा रस्तोवा, श्रद्धा और आत्म-त्याग की मूर्ति सोन्या और शान्त, विनम्र और धार्मिक मारिया बल्कोंस्की। कुतूजोव के चरित्र द्वारा तोलस्तोय ने एक ऐसे सेनापति का चित्रण किया है जो अपनी सेना और जनता की नैतिक शक्ति और चरित्र की दृढ़ता में विश्वास रखता है और बिना दिखावटी शौर्य का सहारा लिये नेपोलियन-जैसे विजेता को पराजित करने में सफल होता है। तोलस्तोय की धारणा थी कि इतिहास की रचना व्यक्ति नहीं, जनता करती है। 'युद्ध और शान्ति' का वास्तविक नायक भी रूसी जनता ही है। मानव-जीवन के इस प्रभावशाली चित्रण के कारण इस उपन्यास की प्रशंसा करते हुए फ्रांसीसी आलोचक चार्ल्स दु बॉस ने कहा था, "यदि ज़िन्दगी लिख सकती, तो वह इसी तरह लिखती, जैसे तोलस्तोय ने लिखा है।"

जहाँ 'युद्ध और शान्ति' में आशावादी स्वर स्पष्ट रूप से झलकते हैं, वहाँ

'आन्ना कारेनिना' (१८७३-७७) निराशावाद से ओत-प्रोत रचना है। 'युद्ध और शान्ति' में स्वस्थ मानव-जीवन और उससे अटूट रूप से सम्बद्ध आनन्द, भय और आशा आदि भावनाओं का चित्रण किया गया है, परन्तु इसके विपरीत 'आन्ना कारेनिना' में मानसिक तनाव, संघर्ष और वेदना के स्वर प्रमुख रूप से उभरते हुए दिखलाई पड़ते हैं। उपन्यास में किटी और लेविन के आनन्दपूर्ण दाम्पत्य प्रेम का तथा आन्ना और व्रोन्स्की के अवैध प्रेम का वैषम्य दिखलाया गया है। जहाँ तोलस्तोय आन्ना कारेनिना से इस बात के लिए कि उसने अभिजात समाज की झूठी, ढोंग-भरी नैतिकता को चुनौती दी, सहानुभूति दिखलाते है, वहीं वे उसकी अपनी व्यक्तिगत भावनाओं के लिए परिवार का विघटन करने और मातृत्व के आदर्श से दूर हट जाने के लिए निन्दा करते हैं। इन दिनों तोलस्तोय की धारणा थी कि स्त्रियों का मुख्य दायित्व बच्चों का सुचारु रूप से पालन-पोषण करना है। अपने इस दायित्व से विमुख होनेवाली नारी पथ-भ्रष्ट हो जाती है। पति को छोड़ देने के बाद आन्ना का गहरा मानसिक अनुताप, अन्तर्व्यथा और अन्त में निर्मम आत्मघात उसके पथभ्रष्ट जीवन के द्योतक हैं। उपन्यास में पाये जानेवाले नैराश्य का कारण आन्ना के जीवन की त्रासदी नहीं है, वरन् तोलस्तोय का अपना स्वयं का मानसिक और आध्यात्मिक द्वन्द्व है जो उन दिनों उनके जीवन को व्यथित किए हुए था और जिसका चित्रण उन्होंने लेविन के चरित्र द्वारा किया है। तोलस्तोय के सदृश पारिवारिक जीवन का सुख भोगते हुए भी लेविन के अन्दर सांसारिक जीवन के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गई थी। लेविन के अंतिम शब्द—"मैं अपने से घृणा करता हूं। अब सब-कुछ स्पष्ट हो गया है"—तोलस्तोय की अपनी मानसिक वेदना को प्रकट करते हैं।

'आन्ना कारेनिना' समाप्त करने से पूर्व ही तोलस्तोय के जीवन में गहरी निराशा छा गई थी। उन्हें अपना जीवन निरुद्देश्य लगता था, "एक मूर्खतापूर्ण और ईर्ष्या-भरा उपहास" जो किसी ने उनके साथ किया था। उनके जीवन का आध्यात्मिक द्वन्द्व जो विवाह और पारिवारिक सुख के परिणामस्वरूप दब गया था, फिर से पूरे उफान के साथ उबल पड़ा। अपनी उस समय की मनोदशा का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है, "निश्चय ही यह भयंकर अवस्था थी और भय से बचने के लिए मैं खुद अपने को मार डालना चाहता था। आगे मेरा क्या होनेवाला है, इसका भय भी मैं महसूस करता था और जानता था कि यह भय मेरी वर्तमान हालत से भी कहीं खराब है। इतने पर भी मैं शान्तिपूर्वक अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा नहीं कर सकता था।" बहुत दिनों तक वे इसी पागलपन की अवस्था में रहे। फिर उन्होंने दार्शनिक ग्रंथों और विभिन्न धर्मों का स्वाध्याय आरम्भ किया। वे जो-कुछ अध्ययन करते उसका चिन्तन करते। इसके फलस्वरूप उन्हें अनायास ही अंतर्बोध

हुआ, " ईश्वर को जानना और जीवित रहना एक ही बात है। ईश्वर ही जीवन है।" इस अन्तर्ज्ञान ने उनके अन्दर और बाहर जो-कुछ था उस सबको प्रकाश से भर दिया और उस प्रकाश ने फिर उन्हें कभी नहीं छोड़ा। उन्होंने अनुभव किया कि जीवन में मनुष्य का उद्देश्य अपनी आत्मा की रक्षा करना है और अपनी आत्मा की रक्षा करने के लिए उसे 'दिव्य' जीवन बिताना चाहिए। 'दिव्य' जीवन बिताने के लिए उसे सब सुखों एवं भोगों का त्याग करना चाहिए। 'मेरी मुक्ति की कहानी' में जिसे उन्होंने १८७८-७९ में लिखा और फिर १८८२ में संशोधित किया, उन्होंने अपने आत्मज्ञान का विस्तार से वर्णन किया है।

इस आध्यात्मिक रूपान्तरण के परिणामस्वरूप तोलस्तोय के जीवन में नया मोड़ आया और जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण ही बदल गया। वे सत्य और धर्मनिष्ठा की खोज की ओर उन्मुख हुए और मानव-जीवन को पूर्ण बनाने के लिए महात्मा ईसा के तात्त्विक और नैतिक सिद्धान्तों का प्रचार करने लगे। उन्होंने अपने पचास वर्ष के जीवन में अर्जित यश, वैभव और आनन्द को ठुकरा दिया और अपनी अमूल्य साहित्यिक कृतियों को "कलात्मक बकवास-भरी हुई" रचनाएँ कहकर उनकी भर्त्सना की। उन्होंने उन दिनों अपनी डायरी में लिखा, "उच्चतम सौन्दर्यपरक आनन्द हमें पूर्ण संतोष कभी नहीं दे पाता। प्रत्येक व्यक्ति सदैव उससे भी किसी ऊँची वस्तु के पाने की अभिलाषा करता है। वह केवल नैतिक भलाई से ही संतुष्ट हो सकता है।" तोलस्तोय के सर्जनात्मक कार्य के परित्याग के निर्णय का उनके प्रशंसकों और मित्रों ने बड़ा विरोध किया। तुर्गनेव ने उनके इस निर्णय को 'एक अक्षम्य अपराध' बताया। जब एक बार तोलस्तोय के एक प्रशंसक ने उनसे 'युद्ध और शान्ति' जैसी कलाकृतियों की रचना बन्द न करने का अनुरोध किया, तो उन्होंने उत्तर दिया, "क्यों, तुम जानते हो, यह बात वैसी ही है जैसे किसी फ्रांसीसी वेश्या से उसके पहले के प्रशंसक कहें कि तुम कितने आकर्षक ढंग से गाती और अपना पेटीकोट ऊपर उछालती थीं।"

यह सोचना भ्रामक होगा कि आध्यात्मिक परिवर्तन के बाद तोलस्तोय साहित्य से बिल्कुल विमुख हो गये। अपनी वृद्धावस्था में उन्होंने 'इवान इल्यीच की मृत्यु' (१८८६) नामक कहानी, 'पुनर्जन्म' (१८९९) उपन्यास, 'हाजी मुरात' (१९०४) लघु उपन्यास, अपने श्रेष्ठ नाटक जिनमें 'अँधेरे में उजाला' (लाइट शाइंस इन डार्कनेस) और 'शिक्षा का फल' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, और अपनी उत्कृष्ट नैतिक कथाएँ लिखीं। परन्तु उन्होंने ये रचनाएँ सौदर्य-सम्बन्धी अपने नये सिद्धांतों के प्रकाश में लिखीं। १८९९ में उन्होंने 'कला क्या है?' शीर्षक प्रभावशाली पुस्तक में कला के नैतिक और लोकप्रिय स्वरूप की व्याख्या की। उनके अनुसार कला को इतना सरल होना चाहिए कि वह सर्वसाधारण की समझ में आ जाए और उनकी

जीवन-सम्बन्धी समस्याओं को हल करने में उनकी सहायता करे। कला की परिभाषा देते हुए उन्होंने लिखा, "कला मानवी व्यापार है और इसमें निहित है कि एक व्यक्ति इसमें जान-बूझकर कुछ बाह्य चिह्नों द्वारा उन भावों को अन्यों तक प्रेषित करता है, जिनका वह अनुभव कर चुका है, और अन्य लोग इन भावों से संक्रमित होते हैं और उन भावों की अनुभूति उन्हें भी होती है। कला आनन्द की वस्तु नहीं है, वह मानवों में ऐक्य का साधन है जो उन्हें एक ही भावना में ग्रथित करता है, और व्यक्तियों तथा मानव-जाति के कल्याणार्थ जीवन और प्रगति के लिए अनिवार्य है।" ऐसी कला मनुष्यों को नैतिक भावनाओं के एक सूत्र में बाँधती है, इसलिए वह मानव जाति के लिए कल्याणकारी होती है। तोलस्तोय ने 'पुनर्जन्म' उपन्यास की रचना कला की इन्हीं मान्यताओं के आधार पर की है। इसमें उन्होंने किसानों की गरीबी का चित्रण किया है और शासक-वर्ग और चर्च के मूलभूत सिद्धांतों की कड़ी आलोचना की है। उपन्यास का नायक नेख्ल्यूदोव, जिसमें तोलस्तोय के स्वयं के चरित्र की झलक मिलती है, विलासी जीवन के वातावरण में फँसकर चरित्र-भ्रष्ट हो जाता है और सरल स्वभाव की लड़की कात्यूशा मासलोवाया को भी अपने प्रेम-जाल में फँसाकर भ्रष्ट कर देता है। बाद में जब कात्यूशा से उसकी अनायास ही भेंट होती है तो उसे पता चलता है कि उसके द्वारा ठुकराए जाने के कारण उसे वेश्यावृत्ति अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा। नेख्ल्यूदोव को अपने दुराचरण और पाप के प्रति ग्लानि हो उठती है और वह पवित्र जीवन बिताने का संकल्प करता है, वह अपनी जमींदारी के किसानों के बीच रहकर उन्हीं की तरह सरल जीवन-यापन करने लगता है। उसे अनुभव होता है कि जीवन का सार है, "अपने-आपको मालिक न समझकर जनता का सेवक समझना।" इस उपन्यास और इस समय की अन्य रचनाओं में तोलस्तोय की शैली जनता के निकट आ जाती है और उनकी भाषा में सरलता और लोक-प्रचलित शब्दों का व्यवहार बढ़ जाता है। जनता की भाषा की प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा है, "जनता जिस भाषा में बोलती है और जिसमें सब-कुछ अभिव्यंजित करने की ध्वनियाँ हैं—जिनको केवल कवि ही कह सकता है—मुझे बड़ी मीठी लगती है। वह भाषा—और यह सबसे बड़ी बात है—कवियों की नियामक है। ऐसी भाषा में जो इतनी सरल और पूर्णतया समझ में आनेवाली है, खराब लिखना असम्भव है।"

इन साहित्यिक कृतियों की रचना करते हुए भी अपने जीवन के अन्तिम तीस वर्षों में तोलस्तोय ने धार्मिक और नैतिक पुस्तकों, लेखों और पत्रों के लिखने में अधिक अभिरुचि दिखलाई। उनका धार्मिक साहित्य बहुत व्यापक है और उसके द्वारा उन्होंने मनुष्यों के जीवन में पूर्णता लाने और पृथ्वी पर "ईश्वरीय साम्राज्य" स्थापित करने के लिए अपने आध्यात्मिक विचारों का प्रतिपादन किया। इनमें सबसे

महत्त्वपूर्ण कृतियाँ 'धर्मशास्त्र के मतवादी सिद्धांतों की आलोचना' (क्रिटिसिज्म ऑफ डागमैटिक थ्योलॉजी, १८८१), 'मेरी आस्थाएँ' (ह्वाट आइ बिलीव, १८८४), 'हम करें क्या' (ह्वाट देन मस्ट वी डू, १८८६), 'जीवन' (ऑन लाइफ, १८८७), 'स्वर्ग तुम्हारे हृदय में है' (किंगडम ऑफ गॉड इज़ विदिन यू, १८९३) आदि हैं। इन रचनाओं में तोलस्तोय ने नैतिक, राजनैतिक, आर्थिक और समाज-विषयक अपने विचारों को सचाई और कलात्मक ढंग से व्यक्त किया है। उनके विचारों में स्पष्टता, मौलिकता, ओज और गहरी मानव-हितेच्छा है।

तोलस्तोय के जीवन-दर्शन में विवेक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे किसी सिद्धांत को उस समय तक स्वीकार नहीं करते जब तक कि वह विवेक की कसौटी पर खरा न उतरे। विभिन्न धर्मों और दार्शनिकों के सिद्धांतों का विस्तृत अध्ययन और विवेकशील बुद्धि से चिन्तन करने के उपरान्त वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बुद्ध, सुकरात, कनफ्यूशियस, लाओत्से, मूसा और हज़रत मोहम्मद आदि युग पुरुषों और ईसा के सिद्धांतों में कोई अन्तर नहीं है। सभी धर्मों के मूलभूत सिद्धांत एक समान हैं। उनके मध्य वैषम्य के बीज स्वार्थपरायण मतावलम्बियों ने बोए हैं। इसलिए उन्होंने मनुष्यों को पथ-भ्रष्ट करनेवाले सनातनी चर्च के भ्रामक आचारों और विधियों की कटु आलोचना की और विवेकयुक्त ईसाई धर्म का प्रतिपादन किया। उनका विश्वास था कि महात्मा ईसा के वास्तविक सिद्धांत पूर्णतया नैतिक और विवेकयुक्त हैं और उनके द्वारा पृथ्वी पर 'रामराज्य' यानी प्रेम का साम्राज्य स्थापित किया जा सकता है। बाइबिल की शिक्षा, "अपने परमपिता परमात्मा के समान पूर्ण बनो" मनुष्य का मुख्य ध्येय होना चाहिए। अपने नैतिक विकास और आत्मोत्सर्ग का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सदैव प्रयत्नशील होना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब वह व्यक्तिगत हित-साधन की चेष्टा न करे। आत्म-विस्मृति और स्वार्थ-त्याग से ही वह अपने जीवन को पूर्ण बनाने में सफल हो सकता है। दूसरों के लिए जीवित रहना ही जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य है।

तोलस्तोय के अनुसार ईसा का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है, "बुराई का हिंसा से विरोध मत करो।" जीवन में अहिंसा के सिद्धांत का पालन करने से मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों में प्रेम का संचार होगा, वे अपने व्यक्तिगत हित की अपेक्षा अपने पड़ोसियों के हित-साधन के लिए सचेष्ट होंगे। इस प्रकार सम्पूर्ण मानव-जाति का हित-साधन हो सकेगा और पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना हो सकेगी। उनका विश्वास था कि जब तक लोगों का नैतिक उत्थान नहीं होता और उनके आपसी सम्बन्ध स्वार्थ के स्थान पर प्रेम पर आधारित नहीं होते, तब तक आधुनिक विज्ञान के महान् आविष्कार नादान बच्चों के हाथ में खिलौनों के समान हैं। उन्होंने अपनी दूरदृष्टि से पहले ही बता दिया था कि नैतिक आदर्शों के अभाव में राजतंत्र और शासक वर्ग

विज्ञान का उपयोग मनुष्यों के विनाश के लिए और भी अधिक विध्वंसकारी अस्त्रों के आविष्कार के लिए करेंगे। अणुशक्ति का विकास और दो महायुद्ध जिनके हृदय हिलानेवाले आघातों के बीच से संसार गुजर चुका है, तोलस्तोय की भविष्यवाणी की सचाई को प्रमाणित करते हैं। तोलस्तोय न तो विज्ञान के विरोधी थे और न उन्होंने उसकी अवहेलना ही की है। वे केवल यह चाहते थे कि उनके आविष्कारों से जनसाधारण का लाभ होना चाहिए न कि गिने-चुने पूंजीपतियों और शासक-वर्ग का। उन्होंने सामाजिक विषमताओं को दूर करने के लिए विज्ञान द्वारा ऐसे यंत्रों के आविष्कार पर बल दिया जिससे परिश्रम की कठोरता कम हो।

तोलस्तोय ने चर्च संस्था के सदृश राज्यतंत्र और सत्तावाद का भी विरोध किया है। जैसे गिरजा के धर्माचार्य जनता का शोषण धर्म के नाम पर करते हैं, वैसे ही सरकार उनका शोषण न्याय, शक्ति, देश-प्रेम, सुरक्षा और सुव्यवस्था के नाम पर करती है। उनकी दृष्टि में दोनों ही अनैतिक हैं। सरकारें हिंसा और बल-प्रयोग की हिमायत करती है और मनुष्यों के बीच कानूनों, दण्ड, कर, सम्पत्ति, युद्ध और सत्ता द्वारा फूट पैदा करती हैं और उनको आपस में लड़ाती हैं। सरकारें जनता को यंत्रणाएं देने के लिए कानून बनाती हैं और उनकी हत्या करने के लिए देशभक्ति के नाम पर शक्तिशाली फौजें खड़ी करती है। सरकारें चाहे किसी प्रकार की हों, सभी निर्दयी और अनीतियुक्त हैं। वे सभी एक समान हैं, अन्तर केवल उनके द्वारा जनता को यंत्रणा देने के साधन और शक्ति में है। वे पृथ्वी पर 'ईश्वरीय साम्राज्य' स्थापित करने के मार्ग में सबसे अधिक बाधक हैं। पशु-बल पर स्थापित वर्तमान शासन-संस्था का एकमात्र विकल्प ज्ञानयुक्त और सदाचार द्वारा प्रस्थापित एकतावाला सत्ताहीन समाज है। परन्तु सरकारों का उन्मूलन हिंसा द्वारा संभव नहीं है। अब तक हिंसा द्वारा सरकारों को नष्ट करने के लिए जितने प्रयोग और प्रयत्न किए गए हैं, उनका फल यह हुआ है कि पदच्युत सरकारों के स्थान पर पहले से भी अधिक निर्मम सरकारें स्थापित हो गई हैं। राज्यतंत्र का विरोध हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा न करके अहिंसा और असहयोग द्वारा ही करना चाहिए। लोगों को सरकार के अपराधों में हाथ बंटाना, सरकारी नौकरी करना, कर देना, फौजों में भरती होना आदि बंद कर देना चाहिए, चाहे उन्हें कितनी ही यातनाएँ सहनी पड़ें। जब अधिक-से-अधिक लोग इस बात की सार्थकता मान लेंगे और सरकार के साथ असहयोग करना प्रारंभ कर देंगे तो एक ऐसा दृढ संकल्प लोकमत तैयार होगा जिसके सामने शक्तिशाली-से-शक्तिशाली सरकार भी घुटने टेक देगी। लोगों को गुलामी से मुक्त होने का यही एकमात्र साधन है।

आर्थिक व्यवस्था में तोलस्तोय कुछ व्यक्तियों द्वारा बहुत-से व्यक्तियों के श्रम के शोषण को एक जघन्य अपराध समझते थे। उनकी धारणा थी कि सभी मुसी-

बतों की जड़ सम्पत्ति है। उसी के लोभ में मनुष्य दूसरों का शोषण और उनके साथ निर्दयता से व्यवहार करते हैं। पृथ्वी पर स्वर्गीय जीवन लाने के लिए सम्पत्ति का उन्मूलन होना चाहिए और जमीन का विभाजन इस प्रकार करना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति, जो उसके द्वारा आजीविका प्राप्त करना चाहे, ज़मीन का आवश्यक भाग प्राप्त कर सके। तोलस्तोय वर्तमान समाज में प्रचलित श्रम-विभाजन की ऐसी व्यवस्था जिसमें कुछ लोग बौद्धिक और आध्यात्मिक कार्य में लगे रहने के बहाने अधिकांश लोगों के शारीरिक श्रम का शोषण करते हैं, बलात्कार समझते थे। उनका विश्वास था, "मुझे जिन कामों की सबसे अधिक आवश्यकता है, उन्हें मैं स्वयं करूँ।" जो व्यक्ति काम नहीं करते उन्हें भोजन नहीं करना चाहिए अथवा उन्हें उतना उत्पादन करना चाहिए जितना वे खाते हैं।

सनातनी चर्च के मनावलम्बियों ने तोलस्तोय को विधर्मी कहकर पुकारा और उनके विचारों को ईसाई धर्म के विरुद्ध बताया। उन्होंने अपना रोष १६०१ में उन्हें रूसी चर्च से बहिष्कृत करके प्रकट किया। शासक-वर्ग उनकी आलोचना से तिलमिला उठा पर उनके विरुद्ध कोई कानूनी कार्यवाही करने में असमर्थ होने के कारण उनके अनुयायी गरीब किसानों को निर्मम यंत्रणाएँ देने लगा। साम्यवादी क्रान्तिकारियों ने उनके अहिंसा और ईश्वर-भक्ति-सम्बन्धी विचारों की उपेक्षा करते हुए भी गरीब जनता के प्रति उनके असीम अनुराग और उनके द्वारा चर्च, राज्य-संस्था तथा सम्पत्ति के निराकरण का स्वागत किया और उन्हें क्रान्ति के पक्ष में एक शक्तिशाली प्रभाव कहकर उनकी प्रशंसा की। लेनिन ने अपने लेख, 'रूसी क्रान्ति का दर्पण : तोलस्तोय' में लिखा, "तोलस्तोय उन विचारों और प्रवृत्तियों की अभि-व्यंजना में महान् हैं जो करोड़ों रूसी किसानों के उदय में बूर्जुआ क्रान्ति के आरम्भ के समय के निकट वर्तमान थीं।" संसार के अधिकांश व्यक्तियों ने उनके नैतिक और आध्यात्मिक विचारों को मानव-समाज के उद्धार का एकमात्र साधन समझा और उन्हें महात्मा तोलस्तोय कहकर उनका सम्मान किया। उनकी लोकव्यापी कीर्ति के कारण यास्नाया पोल्याना एक पवित्र धर्मस्थल बन गया, जहाँ दूर-दूर के विद्यार्थी और सुधारक उनसे मिलने आते। उनका प्रभाव इतना बढ़ा कि एक पत्र के सम्पादक ने लिखा, "हमारे दो सम्राट् हैं— निकोलस द्वितीय और निकोलस तोल-स्तोय। निकोलस ज़ार तोलस्तोय का कुछ नहीं कर सकता और उसका सिंहासन नहीं हिला सकता। किन्तु तोलस्तोय निश्चय ही निकोलस के सिंहासन और उसके वंश को हिला सकता है।" महात्मा गांधी जो कि तोलस्तोय की पुस्तक 'स्वर्ग तुम्हारे हृदय में है' से बहुत प्रभावित हुए थे और अपने को उनका अनुयायी मानते थे, उनके अहिंसात्मक असहयोग का उपयोग भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम में किया।

तोलस्तोय ने अपने जीवन को अपने सिद्धान्तों के अनुरूप बनाने का भरसक

प्रयत्न किया । उन्होंने अपनी निजी सम्पत्ति अपनी पत्नी को दे दी और स्वयं एक साधारण किसान की भाँति अपना जीवन बिताने लगे । प्रतिदिन वह शारीरिक श्रम द्वारा जीविकोपार्जन करते और अपना सारा काम अपने-आप ही करते । फिर भी उनका जीवन उतना सुखी नहीं था जितना वह उसे बनाना चाहते थे । कुछ तो वे अपने परिवार के मतभेद के कारण दुःखी हुए थे और कुछ अपनी वासनाओं पर पूरी तरह नियंत्रण न पा सकने के कारण । उन्होंने लिखा है कि "मैं बुरी आदतों-वाला एक ऐसा दुर्बल व्यक्ति हूँ जो सत्य के देवता की सेवा करना चाहता है पर जो सदैव अपने मार्ग से भटक जाता है ।" उन्होंने अनुभव किया कि पूर्ण मानसिक शांति के लिए हिन्दुओं की तरह घरबार छोड़कर वन में जाकर रहना आवश्यक है । १० नवम्बर, १९१० की रात्रि को तोलस्तोय अपने परिवारवालों को बिना बताये यास्नाया पोल्याना छोड़कर चल दिए । रास्ते में उन्हें निमोनिया हो गया और उन्हें ओस्तापोवो के स्टेशन मास्टर के घर ले जाया गया । ग्यारह दिन बाद उनकी मृत्यु हो गई । उनके अन्तिम शब्द थे—"खोज में – सदैव खोज में ।" इस प्रकार इस महापुरुष की जीवन-लीला इस संसार में समाप्त हुई जिसे वे "एक शाश्वत संसार" समझते थे "जो कि सुन्दर और आनन्ददायक है और जिसको हम उन सबके लिए जो हमारे साथ रह रहे हैं और जो हमारे बाद आयेंगे और भी अधिक सुन्दर और आनन्ददायक बना सकते हैं और बनाना चाहिए ।"

ऋग्वेद में 'माता'

गोविन्द केशव भट

ऐसा तो नहीं है कि ऋग्वेद में माता को ही लक्ष्य कर किसी सूक्त या कोई विशेष स्तुति-स्तोत्र की रचना की गई हो; परन्तु माता के रूप की कल्पना मानव के सामने सदा रही है, यह निश्चित है। समझ पैदा होने के साथ ही माता के रिश्ते का भान मनुष्य को हुआ होगा और इस भान से मातृ-सम्बन्धी विचार और भाव भी विकसित हुआ होगा।

मालूम होता है कि इस विचार में 'जन्मदात्री' की कल्पना सबसे प्रमुख है। फिर केवल जन्म देनेवाली नहीं, पालन-पोषण करनेवाली, सँभालनेवाली, रक्षा करनेवाली, ममता रखनेवाली आदि कल्पनाएँ और भाव माता शब्द से जुड़ते चले गये।

मातृ-सम्बन्धी विचार और भाव ऋग्वेदीय कवियों के मन में पल्लवित न होते, यह तो असंभव है। यहाँ हम ऐसी ही कुछ कल्पनाओं का विवेचन करेंगे।

'जन्मदा' की कल्पना को ऋग्वेदीय कवियों ने जीव-शास्त्र की दृष्टि से प्रस्तुत किया है। एक जगह वर्णन है :

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वंत इदुपवाकमीयुः। (१/१६४/८)

माता ने पिता को उसके ऋत का (सृष्टि-नियम का) भाग दिया। पहले उसने उससे मनसा समागम किया। गर्भाधान की इच्छा होते हुए भी, लज्जायुक्त, वह माता गर्भरस से भर गई। तब मानव नमस्कार करते हुए उस (माता) की स्तुति करने आये।

यह वर्णन निसर्ग-प्रतिमा के अनुषंग में आया है। इसमें माता का अर्थ पृथिवी, पिता का अर्थ आकाश और गर्भजल का अर्थ समृद्धि निर्माण करनेवाला वर्षाजल है। अगली ऋचा में यह नैसर्गिक पृष्ठभूमि अधिक स्पष्ट होती है :

युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वंतः।
अमीमेद्वत्सो अनु गामपश्यद्विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ॥ (१/१६४/९)

दक्षिणा के रूप में दी गई गाय के जूं से माता जुड़ी हुई थी। जल से भरी मेघमाला के बीच गर्भ विश्राम कर रहा था। फिर (गर्भस्थित) बछड़ा एकदम रँभाया। उसकी निगाह गाय पर पड़ी। गोमाता तीन दिशाओं में अलग-अलग रूप लेकर खड़ी थी।

यहाँ यह कल्पना तो है ही कि यज्ञकर्म से पर्जन्य उत्पन्न होता है, यह भी स्पष्ट है कि गोमाता पृथिवी है, क्योंकि गाय के समान पृथिवी यज्ञ में लगनेवाले दूध का संग्रह करती है। गर्भ का अर्थ है सूर्य या मेघोदरस्थ जल। गर्भ का रँभाना यानी मेघगर्जन और गोमाता के विविध रूप का अर्थ है चारों ओर दृष्टिगोचर होनेवाली धनधान्य की फसल। दोनों ऋचाओं के वर्णन में यह नैसर्गिक घटना अभिप्रेत है कि आकाश जल-वर्षा करनेवाले पितृस्थान में है, पृथिवी उससे भरनेवाली माता के स्थान में है और उनके समागम से जन्म पाती है—यह विविध धनधान्य की समृद्धि। इसमें गाय की प्रतिमा भी आ जाती है, क्योंकि मेघजल का अर्थ दूध से भरा वक्षस्थल है (३/५५/१२)। दो अरणियों (समिधाओं) को परस्पर घिसने से यज्ञीय अग्नि प्रकट होता है। यहाँ भी जीव-शास्त्रीय दृष्टि से निचली अरणि विश्रांत माता है और क्रियाशील तथा भरनेवाली उत्तरारणि दूसरी माता या पिता है (३/५५/४)।

इन्द्र के प्रिय सोम (वल्ली) का निर्माण पृथिवी और आकाश करते हैं; इसका वर्णन 'माता के गर्भधारण' की उपमा से किया गया है।

यं सोममिंद्र पृथिवीद्यावा गर्भं न माता बिभृतस्त्वाया।
तं ते हिन्वंति तमु ते मृजंत्यध्वर्यवो वृषभ पातवा उ। (३/४६/५)

जनन-प्रक्रिया का रूपकात्मक वर्णन करते हुए कहा गया है कि अंगिरस पितर उषा से एकरूप होते हैं और इस संयोग से पुत्रों को जन्म देने की इच्छा करते हैं।

अधा मातुरुषसः सप्त विप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसो नॄन्।
दिवस्पुत्रा अंगिरसो भवेमाद्रिं रुजेम धनिनं शुचंतः। (४/२/१५)

एक सोमसूक्त में कहा गया है कि पितर सूर्य की सहायता लेकर पृथिवी में गर्भ रखते हैं। इसमें कल्पना यह है कि स्वर्ग (आकाश) और पृथिवी के समागम की फलसमृद्धि पितर सम्पन्न करते हैं और उससे देवों और मनुष्यों का जन्म होता है।

अग्नि का चमत्कारपूर्ण वर्णन करते हुए एक कवि कहता है:

चित्र इच्छिशोस्तरुणस्य वक्षथो न यो मातरावप्येति धातवे।
अनूधा यदि जीजनदधा च नु ववक्ष सद्यो महि दूत्यं चरन्॥
(१०/११५/१)

इस बालक की वृद्धि आश्चर्यजनक माननी चाहिए, क्योंकि यह दूध पीने के लिए माँ के पास दौड़ता नहीं है। (अग्नि की) माता के स्तन नहीं हैं (यह सत्य है)। लेकिन यह बलशाली होकर अपने काम में लगा हुआ है।

इस काव्यमय प्रतीकात्मक वर्णन से माता का पुत्र को जन्म देना, स्तनपान द्वारा पुष्ट और बलिष्ठ बनाना माता का अपना उत्तरदायित्व और प्रेममय कर्त्तव्य है, यह सत्य सहज ही सूचित होता है।

पर्जन्य के वर्णन में कहा है– "कभी-कभी पिता जननक्षम नहीं होता। कभी वह केवल प्रसव कराता है और नाना रूप लेता है। माता पिता का 'पथ' स्वीकार करती है। इससे पिता और माता दोनों प्रवृद्ध होते हैं।" (८/१०१/३) यहाँ नैसर्गिक घटना का और जीवन-सृष्टि के परिणाम का सहज मिश्रण हुआ है। पिता के जनन-क्षम न होने का अर्थ है, एकाध बार वर्षा का न होना। बारिश हो, पृथिवी वर्षाजल स्वीकार करे तो समृद्धि उत्पन्न होती है। वर्षाजल पुनः (भाप के रूप में) आसमान में जाता है, यह पिता की वृद्धि है। वर्षाजल से धनधान्य का अभिवृद्ध होना पुत्र की वृद्धि है। यह सभी का अनुभव है कि मानव-जीवन में भी पुत्र-जन्म से पिता-पुत्र दोनों समृद्ध होते हैं, धन्य होते हैं, कृतार्थ होते हैं।

यही काव्यगत चमत्कृति सूर्य-वर्णन में दृष्टिगोचर होती है। मा (अदिति) नहीं दीखती; केवल सूर्य-शिशु दीखता है (५/४७/५)।

कई जगह जन्म का वर्णन सीधे किया गया है। अवस्था में से अवस्था, आवरण में से आवरण जन्म लेते हैं। माँ की कोख में रहते हुए अग्नि बोलता है :

अभ्यवस्थाः प्रजायंते प्रवव्रेर्षव्रिश्चिकेत ।
उपस्थे मातुर्वि चष्टे। (५/१९/१)।

सुप्रसूतिवाली माता (अरणि) योग्य समय पर अर्भक (अग्नि) को जन्म देती है—"सुषूरसूत माताक्राणा यदानशे भगम्" (५/७/८)। एक ऋग्वेदीय सूक्त में ऋचाएँ हैं (५/७८/५ से ९)। उसका नाम 'गर्भस्राविणी उपनिषद्' है। उसमें एक ऋचा में जच्चा और बच्चे के आयुरारोग्य की प्रार्थना की गई है :

दशमासांघशयानः कुमारो अधि मातरि।
निरैतुजीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि।

माँ के गर्भ में दस मास सोया रहनेवाला शिशु, जीवित अवस्था में एक जीव में से दूसरा जीव, अक्षत होकर जन्मे।

एक कवि कहता है—"पितर, देव और मर्त्य इनके प्रत्येक के दो-दो मार्ग (स्रुतियाँ) मैंने सुने हैं। इन्हीं मार्गों से प्रत्येक प्राणी माता और पिता में से होकर प्रवास करता है" (१०/८८/१५)।

यह पृथिवी और स्वर्गलोक की ओर जाने-आने के मार्ग का वर्णन है। माता-पिता का अर्थ है पृथिवी और आकाश। इस वर्णन का आधार अनुभूत जीवन ही है। माता-पिता जीवों को जन्म देते हैं। जन्म और मृत्यु (मरणोत्तर स्वर्गलोक) जीवन के दो छोर हैं। स्वर्ग से पृथिवी की ओर और पृथिवी से स्वर्ग की ओर यह जीवन-

प्रवास अखण्ड चला है ।

पर्जन्य के संदर्भ में आकाश और पृथिवी को माता-पिता कहा जाता है, यह हमने देखा । 'द्यावापृथिवी' अथवा 'रोदसी' के लिए माता-पिता की संज्ञा ऋग्वेद में स्थिर हुई है । इस प्रकार का निर्देश असंख्य स्थलों में मिलता है : (१/८९/४,१०; १/१५९/२; १/१६०/२; १/१६४/३३; १/१८५/१०-११; ३/२/२ (यहाँ वैश्वानर अग्नि को अपत्य कहा है); ५/४३/२; ६/३२/२; ६/५१/५; ६/७०/६; ६/७२/२ (पृथिवी माता); ८/२५/३; ८/४७/६; ८/१०३/२ (अग्नि पुत्र); ९/१८/५; ९/७३/५; ९/८५/१२; १०/१/२७; १०/५९/८; १०/६४/१४; १०/१४०/२ आदि) । यहाँ यह तो सूचित है ही कि माता अपत्य की रक्षा करती है, एक स्थान पर तो यह भी कहा गया है कि पिता (द्यौः) का मन उदार है । माता(पृथिवी) के अंगों में जाति से ही अत्यधिक शक्ति है । दोनों 'बहुप्रसू' हैं । इन्होंने यह जीवित जग-निर्माण किया और अपनी प्रजा के लिए अमृतत्व लाये ।

> उत मन्ये पितुरद्रुहो मनो मातुर्महि स्वतवस्तद्धवीमभिः
> सुरेतसा पितरा भूम चक्रतुरुरु प्रजाया अमृतं वरीमभिः । (१/१५९/२)

यदि देव, पितर और मर्त्यों की दो 'स्त्रुतियाँ' हैं तो देवों के जन्म की कल्पना करने में कोई आपत्ति नहीं है । ऋग्वेदीय कवि ऐसी कल्पना करते हैं । उसके लिए अदिति को प्रतीक माना है । अदिति मित्र, वरुण, अर्यमा और वसु की माता है । अर्थात् आदित्य नामक सब देवों की वह माता है । उनमें इन्द्र भी आता है । इसी लिए यास्क ने स्पष्टीकरण के रूप में कहा है—"अदितिः देवमाता" । यहाँ मुख्यतः जन्मदात्री की कल्पना है । साथ ही यह भी कल्पना है कि "मधुमत् पय" (दैवीदुग्ध—पर्जन्य) देकर संतान का वह पोषण करती है ।

> युवोर्हि मातादितिर्विचेतसा द्यौर्न भूमिः पयसा पुपूतनि (१०/१३२/६) ।

कहीं अदिति 'स्वसा' (बहन) होती है (१/१९१/६) । अदिति-संबंधी कुल कल्पना तो बड़ी व्यापक है । द्यौ, अंतरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, सर्वदेव, पंचजन, किंबहुना जो भी जन्म लेता है वह सब अदिति है और इस जन्म देने के पीछे जो मूलभूत शक्ति है वह भी अदिति ही है (अदितिर्जातमदितिजनित्वम्— १/८९/१०) । और भी देखें—१/७२/९; १/११३/१९; ८/२५/३; ८/४७/९; ८/८३/८) । अदिति माता से जन्म पाने के कारण सब देव स्वाभाविक ही भ्रातृत्व संपन्न होते हैं—(१०/३६/३; १०/६३/३; १०/१३२/६ आदि) ।

अग्नि के अनेक रूप हैं । यज्ञ-वेदी पर उत्पन्न किया गया अग्नि उसका पार्थिव रूप है । मेघों के उदर में विद्युत् के रूप में उत्पन्न होनेवाला वैद्युताग्नि

उसका अंतरिक्ष का रूप है और सूर्य के रूप में प्रकाशित होनेवाला तेज उसका दैवीरूप है।

इन रूपों के वर्णन-प्रसंग में अग्नि की माता का निर्देश विविध रूपकों द्वारा किया गया है। यज्ञीय अग्नि दो अरणियों (काष्ठ-समिधा) को परस्पर घिसकर उत्पन्न करना होता है। नीचे की अरणि माता है। इस अरणि में एक गहरा भाग होता है। वहाँ दूसरी अरणि रखकर उसे रगड़ना होता है। यह ऊपर की अरणि पिता है, अथवा दोनों अरणियाँ जन्मदा माता हैं। मंथन से वे अग्नि को जन्म देती हैं, इसलिए अग्नि दो माताओं का पुत्र है।

अरणि या काष्ठ-समिधा वनों में ओषधि-वनस्पति के रूप में होती है। उन्हें वनों से तलाशकर तोड़कर लाना होता है। इस नाते से वन अग्नि की 'शाश्वत माता' सिद्ध होते हैं। वह उनमें छिपा रहता है, सोता है, बिलकुल वैसे ही जैसे बालक माँ की गोद में घुसकर सोता है (४/७/६; ८/६०/१५)। बच्चे को माँ (वन) की याद आती है तब वह उसके पास चला जाता है। इधर अग्नि के जन्म के लिए आतुर समस्त जन (ऋत्विक्) चिंता में पड़ जाते हैं। परंतु मजे की बात यह है कि अग्नि यद्यपि इस प्रकार बहुत दूर (वन के काष्ठ में) चला गया है तो भी वह पास ही रहता है, यज्ञवेदी के पास अरणि में। समिधा को एक-दूसरे से रगड़कर अग्नि प्रज्ज्वलित करने में बड़ा श्रम करना पड़ता है। मजबूत भुजाएँ जरूरी होती हैं। (तभी अग्नि "सहसः सूनुः", शक्तिपुत्र है), और समय भी लगता है। अग्नि का शीघ्र प्रकट न होना ही उसका माँ के पास पलायन है (३/६/२)। माता और शिशु के परस्पर आकर्षण का चित्रण इस रूपक से प्रकट होता है। अग्नि-शिशु की सबको चाह है (वह 'उशेन्य' है) (७/३/६)। दोनों माताओं (अरणियों) को वह प्रिय है (३/२३/३) और अग्नि यद्यपि जीर्ण काष्ठ-माता से जनमा है, फिर भी उसका नयी तरुण माता की ओर (नयी वनस्पति-काष्ठ का) उतना ही खिंचाव है (१/१४१/५)।

अग्नि-मंथन करते समय दोनों हाथ और दसों अँगुलियाँ काम में लानी होती हैं। कहीं-कहीं ये दसों अँगुलियाँ अग्नि की कुमारी माताएँ होती हैं (१/१४१/२) तो कहीं उन्हें अग्नि की अविवाहित बहनें कहा गया है। ज्यों ही अग्नि का जन्म होता है, ये बहनें उसे बड़े ध्यान से सँभालकर उठा लेती हैं (३/२९/१३)। कभी इस वर्णन पर गहरा कौटुम्बिक पुट चढ़ता है। प्रातःकालीन होम-हवनादि के लिए अग्नि को नये सिरे से प्रज्ज्वलित करना होता है। तब पृथिवी और उत्तर दिशा पर (पृथिवी में) रची यज्ञवेदी अग्नि की माताएँ होती हैं। अग्नि जन्म लेता है और माँ की गोद में खेलने लगता है(अरणि से उत्पन्न अग्नि यज्ञवेदी पर रची गई एक-एक समिधा पर फैलता जाता है।) ऋत्विक् इस नवजात अर्भक की स्तुति करते हैं। उसे 'नराशंस'

नाम मिलता है। वह माँ की गोद में लेटता है तब 'मातरिश्वा' नाम पड़ता है (३/२६/११)। यह वैसा ही है जैसे नवजात शिशु का नामकरण होता है। फिर दस अँगुलियाँ या तरुण ओषधियाँ (हरे घास की पूलियाँ) अग्नि पर घृतसेचन करती हैं (३/५/८)। अग्नि के इस अन्नप्राशन के समय माता (पृथिवी, यज्ञवेदी) के पास, बहन उषा आकर खड़ी रहती है (इस समय तक पौ फटती है)। अग्नि के जन्म के समय माता और बहन दोनों एकत्र आती हैं, इससे सभी ऋत्विक् उसी तरह अत्यंत आनंदित होते हैं, जैसे वर्षाजल के आगमन से खेत में पड़े अन्न-बीज उल्लसित होते हैं (२/५/६)। अग्नि भी नवजात शिशु के समान माँ की गोद में दुबकता है, किलकारी भरता है और तेजोमय दीखता है (३/२६/१४)। अग्नि जन्म लेता है शुद्ध, अनलंकृत रूप में ('असंमृष्ट' ७/३/६), मानव-शिशु के समान। लेकिन यह शिशु इतना चपल अवश्य होता है कि माता-पिता (अरणि) उसे सँभाल नहीं पाते हैं। उसे खुला छोड़ देना पड़ता है। फिर घर-घर दौड़नेवाले बच्चे के समान अग्नि मनुष्य की बस्तियों में चमक उठता है।

> न यस्य सातुर्जनितोरवारि न मातरा पितरा नू चिदिष्टौ।
> अधा मित्रो न सुधितः पावकोऽग्निर्दीदाय मानुषीष विक्षु। (४/६/७)

अरणि, काष्ठ या वन के संदर्भ में अग्नि का वर्णन काव्यमय चमत्कृति से युक्त हो जाता है। अग्नि अनेक काष्ठों का अथवा काष्ठ-वनस्पति निर्मित मेघजल का पुत्र है। इसलिए वह 'बह्वीनां गर्भः' है। यहाँ चमत्कार यह कि यह शिशु जन्म लेते ही माताओं को खा जाता है। (अग्नि प्रदीप्त हुआ कि काष्ठ, वनस्पति सब जल जाते हैं) लेकिन यह शिशु माताओं को नया जन्म भी देता है। "वत्सो मातृर्जनयत स्वधाभिः" (१/९५/४)। क्योंकि अग्नि की उष्णता और धूप (धूएं) से नये मेघ बनते हैं, वे वर्षा-जल बरसाते हैं और उससे नयी वनस्पतियाँ जन्म पाती हैं। अग्नि इस अन्न पर पलता है।

> सद्योजात ओषधीभिर्ववक्षे यदी वर्धति प्रस्वो धृतेनो
> आप इव प्रवता शुभमाना उरुष्यदग्निः पित्रोरुपस्थे। (३/५/८)

अग्नि को जन्म देनेवाली अरणि 'युवती' (तरुण माता), 'महिषी' (रानी) कही गई है। यह माँ अपने शिशु को सीने से लगाकर रखती है, पिता को नहीं देती। परन्तु वह जब उसे हाथों में उठा लेती है तो उसका चेहरा सभी को दिखाई देता है (५/२/१-२)। इस वर्णन में मानवीय कौटुम्बिक भावच्छटाएँ आसानी से देखी जा सकती हैं।

अग्नि के वैद्युत रूप का विचार करते समय अनेकविध मेघ और उनके

असंख्य जलकण अग्नि की अनेक माताएँ होते हैं और 'बह्वीनां गर्भः' शब्द सार्थक होता है। मेघ तो अंतरिक्ष-विहारी हैं। इसलिए 'द्यावापृथिवी' को अग्नि के माता-पिता कहा जाता है (७/७/३)। इन माता-पिताओं से जन्म लेते समय अग्नि बड़े जोर से आवाज करते हुए, चीखते हुए बाहर आता है (१०/१/२)। बिजली या लकड़ी की कड़कड़ाहट से सूझी यह कल्पना मानव-शिशु के जन्म का स्मरण कराती है। इस रूप में अग्नि को 'तनूनपात्' (३/२६/११) अथवा 'अपां नपात्' (१/२२२/४) नाम दिये जाते हैं। वैद्युताग्नि के रूप में यह शिशु पिता को समृद्धि देता है। यज्ञीय आहुतियों और धूम के रूप में नये मेघ और मेघजल उत्पन्न कर (६/१५/३५) यज्ञ में अग्नीय दूध का हवन होता है। एक-पर-एक सजे-से लगनेवाले वर्षामेघ मानो दुग्ध-स्राविणी माता है (३/१/७)। कवि-कल्पना के अनुसार शिशु के समान अग्नि को भी माता का यह उन्नत, गुप्त स्थान और उसकी सुन्दर संपदा (वक्ष और जल-दुग्ध) मालूम हैं। जीभ ऊँची कर (यानी धधकती ज्वालाओं से) वह उस संपदा का स्वाद लिया करता है (४/५/१०)। माता का वक्ष एक सुगंधित स्थान है और अग्नि वहाँ बैठता है—"अग्निर्होता न्यसीदद्यजीयानुपस्थे मातुः सुरभा उ लोके" (५/१/६), बिलकुल वैसे ही जैसे बालक माँ से चिपका रहता है। जीवन में समृद्धि लानेवाले इस मेघजल-संबंधी रूपक में माता और बालक का आपसी लगाव, दुग्ध-पान से होनेवाली पुष्टि, माता और बालक में आवश्यक नवशक्ति आदि नाना प्रतिमाएँ निहित हैं। एक ऋचा में स्पष्ट ही कहा है कि माता जिस प्रकार पोषण देने के लिए और सार-सँभाल रखने के लिए आगे-आगे बढ़ती चलती है ताकि प्रत्येक जीवित मनुष्य उसे आँखों से देख ले, और वह जिस प्रकार इस प्रयत्न में अपनी शक्ति खर्च करती है, उसी प्रकार अग्नि हर कहीं घूमता है और अपने लिए काष्ठ-रूपी अन्न जुटाकर पुनः शक्ति अर्जित करता है।

> मातेव यद्भरसे पप्रथानो जनंजनं धायसे चक्षसे च
> वयो वयो जरसे यद्दधानः परित्मना विषुरूपो जिगासि। (५/१५/७)

इंद्र के प्रसंग में माता-पुत्र-संबंध बिलकुल अलग प्रकार का है। उसमें इंद्र की असाधारण महत्ता सूचित करना इष्ट है। अदिति को इंद्र का जन्म कुछ दोषास्पद ('अवद्य') लगा। शायद इसलिए कि वह जन्म के समय अशक्त था, दुर्बल था, या इसलिए कि साधारण मर्त्य के समान उसने जन्म लिया। कारण स्पष्ट नहीं है, परन्तु ऐसे ही किसी कारण से अदिति ने उसे छिपाया। लेकिन इंद्र पैदा होते ही उठ खड़ा हुआ, अपने शरीर पर वस्त्र लपेट लिया और आकाश-पृथिवी को भर दिया (४/१८/५)। जन्म के साथ ही इंद्र ने माता से पूछा "कौन उग्र है ? कौन कीर्ति-सम्पन्न है ?"

आ बुंदं वृत्रहा ददे जातः पृच्छद्वि मातरम् ।
क उग्राः के ह शृण्विरे । (८/४५/४)

वस्तुतः सर्वसामान्य रीति से (योनि मार्ग से) जन्म लेने की इंद्र की इच्छा नहीं थी, वह कुछ-न-कुछ विचित्रता चाहता था। उसके पिता व्यंस ने कहा—"यह पुरातन स्वीकृत मार्ग है। इसी मार्ग से (माँ की कोख में से) सभी देवों ने जन्म लिया है। कितना भी बड़ा गर्भ हो, उसका जन्म ऐसा ही होता है। भिन्न मार्ग से बाहर आने की हठ करके तू अपनी माता का नाश न कर।"

अयं पंथा अनुवित्तः पुराणो यतो देवा उदजायंत विश्वे
अतश्चिदा जनिष्टीष्ट प्रवृद्धो मा मातरममुया पत्तवे कः। (४/१८/१)

जब इंद्र को मालूम हुआ कि अपनी शरारत से माँ मर रही है, तब इंद्र बोला—"मै अपने शब्द वापस लेता हूँ। उसी (सदा के) मार्ग से बाहर आता हूँ"—"परायतीं मातरमन्वचेष्ट न नानु गायन्नु नुगमानि" (४/१८/३)। फिर भी स्वीकृत मार्ग से हटने की उसकी इच्छा या प्रवृत्ति के कारण व्यंस इस बालक पर क्रुद्ध था। उसकी इच्छा थी कि जन्म लेने से पहले ही इसे मार दिया जाए। पर पहले इन्द्र ने ही उसको पैर पकड़कर खींच लिया और मार डाला। माँ के विधवा होने की उसे परवाह न रही (४/१८/१२)। इस चमत्कारपूर्ण वर्णन में इंद्र की विलक्षण सामर्थ्य की व्यंजना है। इंद्र को अपने माता-पिता की विशेष चिंता नहीं थी। लेकिन संग्राम में बलवर्धन करनेवाले अपने वज्र की चिंता तो खूब थी (४/१७/२)।

यों देखने पर, अदिति को इंद्र की अपूर्व सामर्थ्य की जानकारी है। उसी ने उसे बताया, "जो-जो जन्मे है और जो-जो जन्म लेनेवाले हैं, सबमें इंद्र की बराबरी का कोई नहीं है।" (४/१८/४; ७/९८/३)। जन्म देने के साथ ही तुरंत अदिति ने इंद्र को भावी शत्रुओं के संहार-कार्य में प्रवृत्त किया (१०/७३/१)। उसके लिए त्वष्टा के घर में ही भरपूर सोम तैयार कर उसे पिलाया (१/६१/७; ३/४६/५; ४/४८/२)। फिर भी इस विलक्षण वर्णन में एक नैसर्गिक छटा चमकती है। भूख लगी तो इंद्र माँ के पास आया। वहाँ उसे माँ के स्तनों पर तीता सोम दिखाई दिया। तब साथ के लोगों को हटाकर, धोखा देकर, उसने अनेक पराक्रम किये। यानी अकेला ही सोम-रूपी दुग्ध पी गया।

उपस्थाय मातरमन्न मैट्ट तिग्ममपश्यदभि सोममूधः।
प्रयावयन्नचरद् गृत्सो अन्यान्महानि चक्रे पुरुधप्रतीकः। (३/४८/३)

यह ऐसा ही है जैसे भूखा और हृष्टपुष्ट बालक अन्य भाई-बहनों को हटा-

कर अकेले सारा मिष्टान्न खा जाता है। लेकिन हाँ, माँ इस नटखट बालक पर ही रीझती होगी।

सोम के संदर्भ में विविध दृष्टिकोणों के कारण अनेक माताओं के प्रसंग आते हैं। उषा सोम की माँ है, क्योंकि प्रातःसेवन के लिए उषा के उदय होते ही सोम तैयार होता है। जिस पवित्र जल से सोमवल्ली का सिंचन होता है वह जल भी सोम की माता है (९/१११/२)। द्यावापृथिवी अथवा अंतरिक्ष के मेघ ('मध्यमा माता'), और वनों को भी मातृपद प्राप्त है (९/९/३; ९/६८/४; ९/७०/४; ९/८९/१)। ऐसे संदर्भों को लेकर आगे काव्य-कल्पनाएँ भी खिलने लगती हैं। जल की ओर बहनेवाला या माँ को (द्यावा पृथिवी को) देखते ही आवाज देनेवाला सोमरस मानों माँ के पास चीखता-चिल्लाता दौड़नेवाला शिशु ही है :

सं मातृभिर्न शिशुर्वावशानो वृषा दधन्वे पुरुवारो अद्‌भिः

(९/७०/६; ९/९३/२)।

सोम और दूध का मिश्रण मानो गाय और बछड़े का मिलन है। "सं वत्स इव मातृभिरिं दुहिन्वानो अज्यते" (९/१०५/२)। सोमधारा जोर से बहने लगी तो कवि को उपमा सूझती है धनुष की डोर पर टिके बाण की, या गाय के आँचल की ओर दौड़नेवाले बछड़े की (९/६१/१)। सोमवल्ली के पत्ते पीसने के लिए बनाये गये दो पत्थर (ग्रावा) मानों खेल की धुन में माँ की गोद पर दनादन नाचनेवाले बालक हैं—"आक्रीडयो न मातरं तुदंतः" (१०/९४/१४)।

जन्म देने की, सहारा देने की, रक्षण की या सार-सँभाल की कल्पना अनुस्यूत होने के कारण ऋग्वेदीय कवि के मन में माता की उपमा सहज ही आती है। वाक् या स्तोत्र 'महीमाता' है (५/४७/१)। सोम-स्तुतियों को भी माता कहा है (९/१९/४)। स्तुतिस्तोत्र को 'यज्ञ की पवित्र माता' (वह्नी ऋतस्य मातरा) कहा है (९/३३/५; ९/१०२/७)। उसी प्रकार 'द्यावापृथिवी' (६/१७/७; १०/५९/८), 'उषासानक्ता' (प्रातः और रात्रि) (१/१४२/७; ५/५/६) को भी यज्ञीय पवित्र माता कहा है।

उषा को 'गवां माता' (४/५२/२-३; ५/४५/२), अथवा 'अरुषीः मातरः' (१/९२/१), लालरंगी माता कहा है। क्योंकि उषा प्रकाश-किरणों को जन्म देती है। 'अरण्यानि' (वन) 'मृगाणां माता' (मृगों की माता) है(१०/१४६/६)। क्योंकि समस्त पशु-पक्षियों को वन का, अरण्य का आश्रय प्राप्त है। पृथिवी के आधार पर खड़ा यज्ञस्तंभ (यूप) माता के सहारे खड़े होनेवाले शिशुवत् है (३/८/१)। जीवन के लिए अन्नांश देनेवाली ओषधियाँ (वनस्पतियाँ) भी माताएँ हैं (५/५०/७)। नदियों को माता कहना तो स्वाभाविक ही है। नदियाँ जीवनदायिनी होती हैं। पानी और अन्नधान्य की समृद्धि देकर नदियाँ जीवन का पोषण करती हैं (१/१५८/५)।

रसा नदी को 'महीमाता' कहा है (५/४१/१५)। विश्वामित्र ने विपाट और शुतुद्री इन युग्म नदियों को 'मातृतमा' यानी सर्वश्रेष्ठ माता की संज्ञा दी है। यह प्रसंग लाक्षणिक है। यज्ञ में पौरोहित्य सम्पन्न करने पर अपार दक्षिणा को बैलगाड़ियों पर लादकर विश्वामित्र अपने अनुयायियों के साथ घर की ओर लौटा है। बीच में ये नदियाँ पड़ती हैं। वर्षाकालीन महाप्रवाह के कारण विपाट और शुतुद्री नदियाँ तट लाँघकर प्रचंड वेग से बह रही हैं और बाढ़ के घटने का कोई लक्षण दिखाई नहीं देता। विश्वामित्र हृदय से उनकी प्रार्थना करता है, स्तुति करता है, उन्हें रिझाता है, अपने काव्य में उन्हें अमर करने का आश्वासन देता है, और नदी पार करने देने की याचना करता है। स्तुति के कारण कहिए या उनकी परमावधि आ जाने से नदियाँ विश्वामित्र की प्रार्थना को मान्य करती हैं। तब एक नदी प्रियतम की ओर झुकनेवाली तरुणी के समान झुकने को तैयार होती है, तो दूसरी नदी कहती है— "बच्चे को दूध पिलाने के लिए माता जिस प्रकार झुकती है उसी प्रकार मैं तेरे लिए झुकती हूँ" :

अच्छा सिंधुं मातृतमामयासं विपाशमुर्वीं सुभगामगन्म।
वत्समिव मातरा संरिहाणे समानं योनिमनु संचरंती।। (३/३३/३)

माता का वात्सल्य, करुणा और रक्षण की चिंताएँ इस प्रकार प्रकट होती हैं और विश्वामित्र और उसके अनुयायी तथा गाड़ियों के बैलों पर आया संकट टलता है।

काव्यमय वर्णन के प्रवाह में और भी ऐसे अनेक भाव इसी प्रकार सहज व्यक्त होते दिखाई देते हैं। क्षितिज पर खड़ी सुन्दर उषा मानों माता द्वारा सजाई गई तरुण वधू है—"मातृमृष्टा योषा"(१/१२३/११)। उषा 'रत्नभाज' है और अनंत रत्नों का खजाना उसके पास है। इसलिए एक कवि प्रार्थना करता है कि हम उषा के वैसे ही प्रिय हों जैसे माता को पुत्र होते हैं। "तस्यास्ते रत्नभाज ईमहे वयं स्याम मातुर्न सूनवः" (७/८१/४)। सविता के वर्णन-प्रसंग में एक अन्य कवि कहता है, "माता ज्येष्ठ पुत्र को संपत्ति का बड़ा भाग देती है। वह सविता के हिस्से में आया है"—

ज्येष्ठं माता सूनवे भागमाधादन्वस्य केतमिषितं सवित्रा। (२/३८/५)

माँ पुत्र के लिए वस्त्र बुनती है। उसी प्रकार उषा ने (अथवा द्यावा पृथिवी ने) सूर्य के लिए प्रकाश का वस्त्र बुना है।

वि तन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयंति। (५/४७/६)

ऋग्वेदकालीन आर्यों के जीवन में गाय का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान था, यह सुपरिचित है। इसलिए गाय और बछड़ा, बछड़े को चाटनेवाली गाय, गाय की तरफ दौड़नेवाले बछड़े इन सबके परस्पर प्रेम और वात्सल्य की द्योतक प्रतिमाएँ

ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर मिलती हैं। जैसे—

मतयः सोमपामुरुं रिहंति शवसस्पतिम् ।
इंद्र वत्सं न मातरः (३/४१/५)
वत्सो न मातुरुप सर्ज्यूधनि उरुधारेव दुह अग्रे । (६/६६/१)
(ऐसे ही ६/४५/२५; ७/२/५; ८/६५/१; ६/१०४/२; ६/१०५/२ आदि)।

पृथिवी, भूमि तो समस्त प्राणियों की माता है ही। जन्म लेनेवाला प्राणी अंततः पृथिवी की गोद में चिरनिद्रा लेगा ही। ऋग्वेद के मृत्यु सूक्त (१०/१८) में इस दृष्टि से बड़ी हार्दिकता के साथ कोमल भाव शब्दबद्ध हुए हैं। मृतजीव से कहा गया है कि "अब तू भूमि माता के पास, सुखदायी पृथिवी के पास चल। उसके आसरे जा।" जनमानस में ऐसा विश्वास है कि रेशम-सी मुलायम तरुणी जिस प्रकार उदार प्रियतम को सँभालती है उसी प्रकार यह पृथिवी माता मृत व्यक्ति को सँभालेगी।

उपसर्प मातरं भूमिमेता मुरुच्यदसं पृथिवीं सुशेवाम्
ऊर्णम्रदा युवतिर्दसिणावत एषा त्वां पातु निर्ऋतेरुपस्थात् । (१०/१८/१०)

मृत देह को पृथिवी माता के उदर में रखने के बाद पृथिवी से भी विनती की गई है कि अपनी मिट्टी के कणों को खिलने देना उस मिट्टी का बोझ इस मृत देह पर न पड़ने देना। उसे आसानी से अपनी गोद में आने देना और उसका ख्याल रखना। तू उसे उसी प्रकार ढाँप लेना जिस प्रकार माँ बच्चे के शरीर को धीरे से चादर उढ़ाती है।

उंछ्वंचस्व पृथिवी मा नि बाधथाः मूपायनास्मै भव
सूपवंचना। माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णहि। (१०/१८/११)

माता से जन्म लेनेवाले जीव को अंतिम निर्दोष सुख का और ममतापूर्ण आश्रय तो भूमिमाता के अंक में ही मिलता है।

[अनुवादक : ति० न० आत्रेय]

गांधीजी और अमरीका

विश्वनाथ टण्डन

रविवार ४ अप्रैल, १६२१ के दिन न्यूयार्क के कम्यूनिटी चर्च में काफी संख्या में श्रोता उपस्थित थे क्योंकि डॉ० जे०एच० होम्स उस दिन 'विश्व के महानतम व्यक्ति' पर बोलनेवाले थे। डॉ० होम्स की ख्याति एक निर्भीक और मौलिक वक्ता की थी और लोग उनके विचार जानने के लिए उत्सुक थे। अपने प्रवचन में उच्चतम स्थान गांधीजी को देते हुए, डॉ० होम्स ने उनकी तुलना महात्मा ईसा से की थी। उनके इस प्रवचन को भारतीय समाचार-पत्रों में बहुत स्थान मिला था, किंतु अमरीका में कम। इसका कारण यह था कि अमरीका के लोग गांधीजी के नाम से परिचित नहीं थे और प्रवचन को छापने के साथ यह बताना भी जरूरी होता कि यह व्यक्ति कौन है।

डॉ० होम्स को स्वयं १६१८ की एक दार्शनिक पत्रिका के एक लेख में उनके बारे में पढ़ने को मिला था और फिर प्रयास के बावजूद अमरीका में गांधीजी के संबंध में बहुत थोड़ा साहित्य पा सके थे। बाद में इंगलैंड जाने पर उनको अधिक मिला था और वे गांधीजी के प्रशंसक बन गये थे। उसके बाद तो अमरीका के लोगों को गांधीजी से परिचित कराने का काम उन्होंने उसी प्रकार किया जिस प्रकार रोम्याँ रोलाँ ने यूरोप में किया था। वे 'यूनिटी' नामक अपनी पत्रिका में गांधीजी पर लिखते रहते थे और उसमें उन्होंने गांधीजी की आत्मकथा को भी किस्तों में प्रकाशित किया था।

आज के युग में गांधीजी के संबंध में अमरीका की यह अनभिज्ञता अजीब भले लगनेवाली हो, किन्तु उसमें आश्चर्य की बात नहीं है। अमरीका के लोग विश्व की राजनीति से अपने को अलग रखते थे और एशिया में उनकी व्यापारी दिलचस्पी चीन तक थी। उस ज़माने में आने-जाने के साधन इतने सुलभ भी नहीं थे, और अमरीका की दुनिया सचमच एक दूसरी दुनिया थी। यह अवश्य है कि

भारत में ईसाई मिशनरी एक बड़ी संख्या में थे, किन्तु दो कारणों से उनको गांधीजी में कोई रुचि नहीं थी। एक तो वे राजनीतिक नेता थे, और दूसरे वे हिंदू थे।

प्रथम महायुद्ध के बाद

किंतु तीसरे दशक में परिस्थिति में परिवर्तन आने लगा था। १९२० के आन्दोलन ने गांधीजी के विचारों तथा अहिंसात्मक पद्धति को विश्व के सामने लाकर रख दिया था और बहुत-से धार्मिक ईसाइयों के वे आकर्षण-केन्द्र बन गये थे। इनमें कुछ अमरीकी क्वेकर भी थे। १९२६ में डॉ० रूफ़स जोन्स गांधीजी से मिले थे और वे उनसे बहुत प्रभावित हुए थे। उनको उनमें संत फ्रांसिस की-सी सादृश्यता मिली थी। इसके एक वर्ष पूर्व रिचार्ड बी० ग्रेग भी भारत आये थे और काफी समय तक गांधीजी के आश्रम में ठहरे थे। वे तो एक प्रकार से उनके शिष्य ही बन गये थे। इस प्रकार अमरीका के कुछ लोग गांधीजी के निकट आते गये थे।

इस प्रकार चौथे दशक के प्रारंभ तक गांधीजी का नाम अमरीका में इतना पहुँच गया था कि जब वे १९३१ में इंगलैंड में द्वितीय गोलमेज़ सम्मेलन के संदर्भ में थे तो उनको अमरीका का निमंत्रण मिला था। इसको वे स्वीकार तो नहीं कर सके थे, किंतु आकाशवाणी के द्वारा उन्होंने अपना संदेश अमरीकियों को दिया था। इस निमंत्रण का कारण राजनीतिक दिलचस्पी था। गांधीजी भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के सर्वप्रमुख नेता थे और अमरीकियों को आन्दोलन से सहानुभूति थी। इस समय के प्रमुख शान्तिवादियों पर समाजवाद का प्रभाव था और गांधीजी के उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद-विरोधी पक्ष के साथ उनकी सहानुभूति थी, किंतु उनके आर्थिक विचार को समझने में वे असमर्थ थे। मार्क्स से प्रभावित तत्त्व तो उनके विरुद्ध भी थे।

किंतु समय के साथ गांधीजी की पद्धति ने उनको अनुकूल बनाना प्रारंभ किया। अपने मतभेद के बावजूद रीनहोल्ड नीबूर ने १९३२ में नीग्रो लोगों को यह सलाह दी थी कि वे न्याय-प्राप्ति के लिए सत्याग्रह को अपनायें। एक अन्य विशेष व्यक्ति ने एक प्रसिद्ध पत्रिका में गांधीजी की पद्धति को अमरीकी परिस्थितियों में उपयुक्त बताया था और कहा था कि समझाने-बुझाने तथा शिक्षण के परंपरागत तरीकों के बाद सत्याग्रह की भी आवश्यकता पड़ती है। १९३४ में ग्रेग की पुस्तक 'द पावर ऑफ नानवायलेन्स' प्रकाशित हुई और गांधीजी का प्रभाव बढ़ाने में इसने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस पुस्तक में ग्रेग ने ऐतिहासिक उदाहरणों के साथ वैज्ञानिक कारण देते हुए अहिंसक पद्धति की श्रेष्ठता सिद्ध की थी।

जैसा कि स्वाभाविक है, सर्वप्रथम नीग्रो नेता गांधीजी की ओर उन्मुख हुए थे। प्रथम महायुद्ध से उनमें यह आशा जगी थी कि युद्ध के बाद उनके साथ अधिक

अच्छा व्यवहार होगा, किंतु उनकी आशाएँ गलत सिद्ध हुईं और निराशा की स्थिति में उन्होंने जातीय न्याय के लिए किये गये अपने संघर्ष में गांधीजी की पद्धति को अपनाने की सोची। गांधीजी से मिलनेवाले प्रथम नीग्रो नेता डॉ० होवर्ड थरमन थे, और उन्हीं से १६३६ में गांधीजी ने कहा था, "यदि यह सब सच साबित होता है तो हो सकता है कि विश्व को अहिंसा का विशुद्ध संदेश नीग्रो लोगों से प्राप्त हो।"

इसी बीच ए० जे० मस्ते, जिनका स्थान अमरीकी शांति-आन्दोलन में बहुत ऊँचा था, गांधीजी की आन्दोलन-पद्धति की ओर खिचते आ रहे थे। शांतिमय तरीके का उपयोग वे पहले भी १६१६ में मजदूर-आन्दोलन में कर चुके थे और दूसरी बार उसका इस्तेमाल १६३६ में गुड इयर टायर कम्पनी के मजदूरों के आन्दोलन में किया गया था, जिसने कि 'सिट-इन' को लोकप्रियता प्रदान की थी। बीच के समय में मस्ते साम्यवाद की ओर खिच गये थे, किंतु १६३६ में वे फिर अहिंसा पर लौट आये थे, और जैसा कि स्वाभाविक है उनका विश्वास उसमें पहले से कहीं अधिक बढ़ गया था। इस प्रकार १६४० तक पहुँचते-पहुँचते अमरीका का वातावरण गांधीजी के तरीकों के अनुकूल बन गया था।

अनुकूल पृष्ठभूमि

यहाँ इसका भी उल्लेख करना उचित ही होगा कि अमरीकी शांतिवादियों के लिए न तो गांधीजी के विचार पूर्णतया नये थे और न उनकी पद्धति ही ऐसी थी। पुराने ईसाई शांति-संप्रदायों में क्वेकर लोग, जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, उनके बहुत निकट थे। मैनोनाइट लोगों के विपरीत, इन लोगों की अहिंसा सक्रिय थी और वे राजनीति से दूर नहीं भागते थे। इसके अतिरिक्त अमरीका में पिछली शती में धर्मनिरपेक्ष शांतिवादियों का उदय भी हो गया था और इनमें कुछ के विचारों में गांधीजी के विचार बीजरूप से मौजूद थे।

गांधीजी ने स्वयं थोरो के प्रति अपना ऋण स्वीकार किया है। वे तो उस पाश्चात्य त्रिमूर्ति में थे जिनसे गांधीजी अत्यन्त प्रभावित हुए थे। शेष दो टॉलस्टाय और रस्किन थे। किंतु टॉलस्टाय स्वयं अमरीकी एडिन बेलाऊ के बड़े प्रशंसक थे, और उसकी पुस्तकों का उन्होंने स्वयं रूसी भाषा में अनुवाद किया था। कुछ अमरीकियों का मानना है कि बेलाऊ ने गांधीजी को भी प्रभावित किया था, किंतु इसका कहीं और समर्थन नहीं मिलता है। कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि बेलाऊ का यह मानना था कि खतरनाक व्यक्तियों को दुराचरण से इस प्रकार रोकना चाहिए कि उनको शारीरिक हानि न पहुँचे तथा अपराध-वृत्ति का सुधार इस पर निर्भर करता है कि समाज को उस व्यक्ति की कितनी चिंता है। उनका यह भी विचार था कि हानि का उत्तर हानि से देने से अधिक हानि होती है, और चोट को

सहन करने तथा सद्भावपूर्ण ढंग से न्याय का आग्रह करते रहने से समाज प्रगति करता है।

एक अन्य शान्तिवादी, चार्ल्स के० व्हिपिल के विचारों में भी गांधीजी के कुछ विचारों का पूर्व संकेत मिलता है। उनका कहना था कि अमरीका ने अपनी स्वतन्त्रता के लिए युद्ध का सहारा न लिया होता तो उनको स्वतन्त्रता शीघ्र और सम्मानपूर्ण ढंग से मिल गई होती और उसके कुछ दुष्परिणाम भी न हुए होते, जैसे अंग्रेजों से पचास वर्षों के लिए वैरभाव, संविधान में दासता को स्थान मिलना, आदि।

इस वैचारिक पृष्ठभूमि के अतिरिक्त, १९ वीं शती के नारी-आन्दोलन तथा कुछ मजदूर-आन्दोलनों में शांतिपूर्ण तरीके अपनाये गये थे। इनमें शांतिवादियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ अदा की थीं।

इन सबके परिणामस्वरूप इस शती के पाँचवें दशक में अमरीका में शांतिवादी और नीग्रो वातावरण गांधीजी के विचार और पद्धति के अनुकूल था और समाज-परिवर्तन में विश्वास रखनेवाले (रैडिकल) शान्तिवादियों ने परिस्थिति के अनुसार गांधीजी को अपनाना प्रारंभ किया। इसकी शुरुआत कुछ बस्तियों तथा आश्रम-ढंग की संस्थाओं की स्थापना से हुई थी। इनमें तीन का नाम उल्लेखनीय हैं। एक न्यूजर्सी में 'दि नेवार्क' (१९३९-१९४४) नामक सामुदायिक बस्ती थी और दूसरा न्यूयार्क का 'हेरलेम आश्रम' (१९४०-१९४७) था। तीसरी की स्थापना बहुत बाद में न्यूयार्क में आर्थिक विकेन्द्रीकरण के प्रबल समर्थक राल्फ बोरसोडी द्वारा हुई थी। यह 'स्कूल ऑफ लिविंग' था जिसके संचालक भारत में रहे एक पुराने मिशनरी राल्फ टेम्पलिन थे। यह एक अहिंसक समुदाय था जो विकेन्द्रित जीवन पर प्रयोग करता था। इस स्कूल के कारण तथा एल्डस हक्सले, रिचार्ड ग्रेग, ए० ई० मारगन, गांधीजी, विनोबा आदि के प्रभाव के कारण शांतिवादी अहिंसक अर्थशास्त्र तथा सादे जीवन की ओर झुके।

द्वितीय महायुद्ध के बाद

१९४५ में परमाणु बम के उपयोग का शांतिवादियों पर बहुत प्रभाव पड़ा। उसने उनके सम्मुख नई चुनौतियाँ प्रस्तुत कीं तथा उनकी संख्या में वृद्धि की। महायुद्ध ने अमरीका की पृथक्कता को भी समाप्त कर दिया था और अब दूसरे देशों से बहुत बड़ी मात्रा में आवागमन स्थापित हुआ। भारतीय स्वतन्त्रता तथा गांधीजी के बलिदान का प्रभाव पड़ा। आचार्य कृपालानी, भारतन् कुमारप्पा, सुशीला नैयर-जैसे गांधीवादी तथा प्रो० एडी आशीर्वादम्, धीरेन्द्रमोहन दत्त-जैसे विद्वान् अमरीका गये और उनके भाषण गांधीजी पर हुए तथा १९४८ में भारत में शान्तिवादियों के सम्मेलन के कारण उन लोगों का प्रत्यक्ष संबंध भारत से आया और वे गांधी-विचार

के निकट आये। कुछ अमरीकी लेखकों जैसे लुई फिशर, विन्शट शीन, पर्ल बेक आदि ने भी योगदान किया। इन सबका प्रभाव उस देश पर, विशेष रूप से शांतिवादियों पर पड़ा। इस संदर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि प्रसिद्ध समाज-दार्शनिक पिटरिम ए० सोरोकिन ने १९४८ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'रिकन्सट्रक्शन ऑफ ह्यूमैनिटी' गांधीजी को समर्पित की थी और उसमें गांधीजी को मृत्युहीन (डेथलेस वन) बताया था।

इसी वर्ष वहाँ 'पीस मेकर्स' नामक संस्था बनी जिसका एक उद्देश्य शांतिपूर्ण काल में अनिवार्य सैनिक सेवा के विरोध में सविनय अवज्ञा करना था। इस संगठन पर मार्क्सवाद से अधिक गांधी-विचार का प्रभाव था और मस्ते का इसकी स्थापना में हाथ था। अपने वामपक्षी विचारों के कारण वे अहिंसक क्रांति के समर्थक थे और उन्होंने सत्याग्रह को अमरीकी परिस्थितियों के अनुसार ढाला था।

छठे दशक के प्रारम्भिक वर्ष में अमरीका पर मैकार्थीवाद छाया हुआ था, जिसने 'असहमति' का मुँह बंद कर दिया था। तो भी शांतिवादी कुछ-न-कुछ विरोध करते रहे थे और जैसे-जैसे उसके बादल उठते गये, अहिंसक आन्दोलनों के लिए भूमिका बनती गई। दशक के मध्य में निःशस्त्रीकरण तथा नीग्रो लोगों के लिए नागरिक अधिकार आन्दोलनों ने विभिन्न रूप धारण किये। पहले के अन्तर्गत बम-प्रतिबंध आंदोलन, गोल्डन रूल और पोलेरिस योजनाएँ, सानफ्रांसिस्को से मास्को की शांति पदयात्रा आदि आयोजित हुए। दूसरे के अन्तर्गत बर्मिंघम बस बहिष्कार, सिट-इन, फ्रीडम राइड्स आदि चले। इन सबमें जुलूस, प्रार्थना-सभाएँ, पर्चों आदि का वितरण, मुहल्ला सभाएँ आदि कार्यक्रम अपनाये गये थे।

इन आंदोलनों में गांधीजी की प्रेरणा काम कर रही थी, इसका प्रमाण शांति पदयात्रा दल द्वारा मास्को के लाल चौक में बाँटे गये पर्चों में तथा वृद्ध नीग्रो नेता मार्टिन लूथर किंग के कथनों में मिलता है। मास्को के पर्चों में शस्त्रास्त्रों पर निर्भरता को गलत बताते हुए कहा गया था, "इसलिए सभी सरकारों को अनिवार्य सेना भर्ती समाप्त करनी चाहिए, सेना में कमी करना शुरू करना चाहिए और स्वतन्त्रता की रक्षा तथा अत्याचार और दमन के प्रतिकार के लिए गांधीजी की अहिंसा की ओर मुड़ना चाहिए।" मार्टिन लूथर किंग ने अपनी पुस्तक में लिखा था, "मैं कई महीनों से सामाजिक सुधार की जिस पद्धति की तलाश में था वह मुझको प्रेम और अहिंसा पर गांधीवादी बल में मिली।...मुझे लगा कि दलितों के लिए, उनके मुक्ति-संघर्ष के लिए, वही तरीका नैतिक और व्यावहारिक दृष्टि से ठीक था।" यह अवश्य है कि नागरिक अधिकार आंदोलन में भाग लेनेवाले अधिकांश नीग्रो लोग केवल गांधीजी के नाम से परिचित थे और उनका आंदोलन के शांतिपूर्ण रूप की ओर खिंचाव या तो धार्मिक वृत्ति के कारण था या फिर उसकी कारगरता के कारण।

सातवें दशक में शांति आंदोलन जिसका विशेष संबंध वियतनाम युद्ध से था, नीग्रो आंदोलन, खेतिहर मजदूर आंदोलन और युद्धकर-प्रतिकार आंदोलन के संदर्भ में अहिंसक सीधी कार्रवाई की पद्धति का और विकास हुआ। खेतिहर मजदूर आंदोलन के नेता सीजर चावेज़ ने आर्थिक बायकाट के शस्त्र का उपयोग भूमि-मालिकों के विरुद्ध किया था। उसके आदमी मंडियों में जाकर इसका प्रचार करते थे कि समझौता न करनेवाले भू-मालिकों द्वारा उत्पादित वस्तुओं को न तो बेचा जाये और न ग्राहक खरीदें। वैसे इस शस्त्र का कुछ इस्तेमाल काले लोगों ने भी किया था। किंतु यह कहना कठिन है कि इस समय अपनाये गये सभी तरीके गांधी-विचार पर खरे उतरेंगे। उदाहरण के रूप में, वियतनाम युद्ध के विरोध में तीन शान्ति-वादियों द्वारा आत्मदहन को गांधीजी शायद ही उचित मानते। विनोबाजी को वह ठीक नहीं लगा था।

वर्तमान स्थिति

वियतनाम युद्ध की समाप्ति के बाद, शांति आंदोलन गांधी तथा वर्तमान सर्वोदय विचारकों के चिंतन के और निकट आ गया है। उसका ध्यान समाज-परिवर्तन की दिशा में अब अधिक जा रहा है और सातवें दशक के अन्त में उठाये गये कुछ कार्यों को गति प्रदान हुई है। वियतनाम नीति से अहिंसक समूहों का यह विचार दृढ़ हो गया कि युद्ध की जड़ें समाज के गलत मूल्यों और संरचना में हैं। इनमें परिवर्तन के लिए, प्रतिकार की तुलना में रचनात्मक कार्य की आवश्यकता अधिक है। अत: आज शांतिवादी परमाणु बिजलीघरों के निर्माण, बेकारी तथा प्रदूषण के विरोध के साथ-साथ 'पड़ोसी समूहों' द्वारा किरायेदारों के अधिकारों की रक्षा, सामुदायिक नियंत्रण, बच्चों की देखभाल आदि स्थानीय आवश्यक सेवा-कार्य में लगे हुए हैं।

स्त्री-मुक्ति आंदोलन ने भी जोर पकड़ा है। महिलाओं की यह मांग है कि पुरुषों के सभी प्रकार के आधिपत्य का अन्त होना चाहिए और समाज-संस्थाओं में ऐसे परिवर्तन होने चाहिए जिनमें मानवीय और स्नेहपूर्ण संबंधों की झलक हो।

इस प्रकार, दिन-प्रतिदिन, अमरीका के अहिंसक समूह गांधीजी के निकट आते जा रहे हैं, और इस प्रक्रिया में कुछ अमरीकी विद्वान् भी लगातार मदद करते रहे हैं और कर रहे हैं। वहाँ के विश्वविद्यालयों और शोध-संस्थानों में गांधी-विचार का गहन अध्ययन हो रहा है और मौलिक ग्रंथ निकल रहे हैं। ये विद्वान् गांधी के अमरीकीकरण की भी बात करते हैं। इसमें एक तरफ जहाँ इस बात का भय है कि अपनी 'फलवादी' वृत्ति के कारण वे गांधीजी के कुछ बुनियादी विचारों को छोड़

सकते हैं या उनकी अवहेलना कर सकते हैं, वहाँ दूसरी ओर इसकी भी आशा की जा सकती है कि वे गांधीजी के विचारों के स्थायी तत्त्वों को अधिक तटस्थता से सामने ला सकेंगे।

विज्ञान और अध्यात्म

टी० एस० अनंथु

विज्ञान और अध्यात्म को सदा से परस्पर-विरोधी अनुशासनों के रूप में देखा जाता रहा है। मामूली तौर पर विज्ञान को 'तर्क' और 'यथार्थ' से जोड़ा जाता है तथा अध्यात्म को 'विश्वास', 'आदर्श', किसी आंतरिक भावना या 'रहस्यवाद' से।

अब कुछ दिनों से कतिपय ऐसी बातें सामने आई हैं जिनसे इस बात का संकेत मिलता है कि इन दो विरोधी-भासमान दृष्टियों में संगति की ज़बरदस्त संभावना है। यदि यह संभावना सच में बदली जा सके तो घटनाएँ एक अप्रत्याशित मोड़ ले सकती हैं। हम इसे सुनकर चाहे जितने आश्चर्यचकित क्यों न हों, हमें यह नहीं भलना चाहिए कि विज्ञान और अध्यात्म दोनों का मूल उद्देश्य एक है : सत्य की खोज।

इन दिनों 'वैज्ञानिक आध्यात्मिकता' को लेकर जो अनुसंधान चल रहे हैं और फलस्वरूप जो परिणाम सामने आ रहे हैं, वे आश्चर्यजनक रूप से जीवन के प्रति प्राचीन भारतीय दृष्टि से बहुत मिलते हैं, हालाँकि यह सारा अनुसंधान उन लोगों द्वारा किया जा रहा है जो न हिन्दू हैं, न भारतीय। विज्ञान के जिन क्षेत्रों में इस विषय को लेकर अनुसंधान चल रहा है, वे क्षेत्र मुख्यत: भौतिकशास्त्र, मनोविज्ञान-शास्त्र और चिकित्सा-शास्त्र की कुछ शाखाएँ हैं; किन्तु अनुसंधान के इन प्रयत्नों को किन्हीं विशेष कोठरियों में कैद मानना गलत ही होगा। ये सारे अनुसंधान परस्पर विभिन्न क्षेत्रों पर अवलंबित हैं, और यदि इनमें सफलता प्राप्त होती है तो उसका असर भौतिक-विज्ञान और समाज-विज्ञान की लगभग सभी शाखाओं पर पड़ता दिखाई देगा।

पिछली कुछ शताब्दियों से विज्ञान विभिन्न विशिष्ट क्षेत्रों को अपनाकर बढ़ता रहा है और इस तरह वह अलग-अलग घेरों में बंद होता चला गया है।

तथापि अनुसंधान की इस नयी दिशा के कारण पहली बार कुछ ऐसा लग रहा है कि शायद प्रगति की अब तक की दिशा बदलकर दूसरी हो जायेगी। विज्ञान का आध्यात्मिकता से समन्वय हमें पहली बार मानवीय विज्ञान को अपने भीतर सब-कुछ समेट लेनेवाला और रूप देने में समर्थ हो सकेगा। चूँकि इस विज्ञान का अनिवार्य अंग 'जीवन का अर्थ और हेतु' होगा इसलिए उसके द्वारा हमें समाज के पुनर्गठन का एक नया विज्ञान और आदर्शनिष्ठ आधार मिलेगा।

इस क्षेत्र में अनुसंधान करनेवाले लोगों के समूह में सबसे पहले मनोवैज्ञानिक आये। शुरू-शुरू में पश्चिम के विज्ञान और विज्ञानवादियों ने उनके काम की अवहेलना की और उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले उन्हें भ्रमपूर्ण माना। यह ताज्जुब की बात है कि साम्यवादी देशों ने इस प्रकार के अनुसंधान को अलग तरह से देखा। रूस में इस प्रकार के मनोविज्ञान-सम्बन्धी अनुसंधानों को बढ़ावा दिया गया और वहाँ के वैज्ञानिकों ने 'कीर्तियन फोटोग्राफी' का विकास करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। इस पद्धति के द्वारा मनुष्य-देह और दूसरे चेतन प्राणियों के आसपास 'एक प्रकाश-मंडल' की बात सिद्ध होती दिखाई देती है।

पश्चिम में इस प्रकार के मनोवैज्ञानिकों को तिरस्कार ही मिलता रहा; किन्तु जब एकाएक भौतिकशास्त्र और चिकित्साशास्त्र की खोज के दरम्यान कुछ ऐसी बातें सामने आईं, जिससे इन निष्कर्षों की पुष्टि हुई तो अवहेलना करनेवाले लोगों के मन में अपनी मान्यताओं के प्रति दुराग्रह की कमी हो गई। जो भौतिक-विज्ञानशास्त्री आधारभूत अणुओं, क्वांतम-सिद्धान्त और सापेक्षता के सिद्धांत (रिलेटिविटी थिअरी) पर काम कर रहे थे उन्होंने देखा कि काल और कारण-सम्बन्धी जिन बातों पर हम मामूली तौर पर विश्वास करते रहे हैं वे एक सीमित क्षेत्र की घटनाओं तक ही सही हैं और इस सीमित यथार्थ के बाद नये मनोवैज्ञानिकों के अनुसंधानों से फलित निष्कर्ष असंमजस नहीं, समंजस हैं। यह निष्कर्ष लगभग जैसे कुछ ही थे जिन्हें भारत के योगी युगों से कहते चले आ रहे हैं। जो लोग मस्तिष्क-संबंधी तरंगों और शरीर के उपकरणों के संचरण को लेकर अनुसंधान कर रहे थे वे भी कुछ इसी प्रकार के परिणामों पर पहुँचे और फल यह हुआ कि परामनोवैज्ञानिक अनुसंधान का विरोध छिन्न-भिन्न हो गया। १६६६ में वैज्ञानिक प्रगति के अमरीकी संगठन ने परामनोवैज्ञानिक संघ को मान्यता दे दी और इस तरह उनके अनुसंधान को निराधार न मानकर वैज्ञानिक होने की संज्ञा मिल गई।

तब से आज तक पश्चिम में विज्ञान और अध्यात्म के क्षेत्र में होनेवाले अनुसंधानों ने लंबे-लंबे डग भरे हैं। इन प्रयत्नों में स्टेण्डफोर्ड रिसर्च इंस्टिट्यूट ने बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाही है। रसलटार्ग और हेरोल्ड उथोफ् नामक दो प्रतिष्ठित भौतिक-शास्त्रियों ने इसी वर्ष अपने अनुसंधानों से प्राप्त परिणामों को

'माइण्डरीच' नामक पुस्तक में प्रकाशित कराया है। डॉक्टर ट्रिट्योफ केप्रा ने बड़ी खूबी से भौतिक-शास्त्र के आधुनिक अनुसंधानों और भारतीय तथा चीनी संत-सिद्धों के विचारों में अद्भुत साम्य प्रतिष्ठित करके दिखाया है। उक्त सज्जन कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में भौतिकी के प्राध्यापक हैं और उन्होंने जो किताब लिखी है, उसका नाम 'दताओ ऑफ फिजिक्स' रखा है। डॉक्टर रॉबर्ट ऑर्नस्टोन और उसके सिवा कई अन्य लोगों ने 'चेतना विज्ञान' के नये क्षेत्र में बहुत ही मूल्यवान काम किया है। इस सिलसिले में एक बहुत दिलचस्प सिद्धांत यह सामने आया है कि हमारे दिमाग का बाँया हिस्सा (लेफ्ट हेमिसफियर) विश्लेषणात्मक विचार में प्रधान रूप से काम करता है और यह इसलिए कि इसके सोचने का तरीका 'एक कदम के बाद दूसरा कदम' या एक बार में एक कदमवाला होता है। इसके विपरीत दिमाग का दाहिना हिस्सा (राइट हेमिसफियर) 'संपूर्ण' (टोटल) या भावनात्मक अनुभवों की हद तक प्रधान भूमिका अदा करता है; क्योंकि यह कदम-ब-कदम न चलकर छलाँग मारता है या कह सकते हैं कि पलक मारते ही सब-कुछ अपने भीतर समा लेता है। कभी अपने प्रेरणा के अंगों में तत्काल और संपूर्ण अनुभव करानेवाले दिमाग के दाहिने भाग से लाभान्वित होता है, मगर जब वे प्रेरणा से प्राप्त अनुभवों को कलम-बंद करने लगते हैं तब उन्हें इस संपूर्णता को हिस्सों में बाँटना पड़ता है जो ठीक शब्दों के माध्यम से ही संभव है। मन में उभरे हुए संपूर्ण चित्र को एक बार भी विनित नहीं किया जा सकता उसे खण्डों में ही विनित करके संपूर्णता तक पहुँचाना होगा। अब यह काम चूँकि दिमाग के बाँये हिस्से का है इसलिए समूचे सपने को साकार करते समय उसका कोई-न-कोई अंश इस प्रक्रिया में छूट जाता है अथवा विलीन हो जाता है। इसी तरह रहस्यवादी संतों और योगियों के अनुभव दिमाग के दाहिने हिस्से से इतने घने रूप में काम लेते हैं कि हम खंडों में सोचनेवाले लोग उनकी उड़ान को छू भी नहीं पाते और इसलिए उनके कथन अटपटे और तर्कहीन लगते हैं। हमें अपने दिमाग के दाहिने हिस्से से काम लेने का पूरा-पूरा अभ्यास ही नहीं है क्योंकि हमारे 'वैज्ञानिक विकास' अभी तक विश्लेषणात्मक ढंग के रहे हैं और इस कारण केवल हमारे दिमाग के बाँये हिस्से की धार ही तेज हुई है—दाहिना हिस्सा भोथरा पड़ा है। अगर इस तरह देखें तो समझ में आ जायेगा कि योगी आदि की श्रेणी में आनेवाले लोग अपने मस्तिष्क का कहीं अधिक उपयोग करते हैं और इसलिए मानना चाहिए कि उनके कथन अधिक तर्काधारित हैं न कि तर्कहीन।

इसी बीच रेमांड मूडी और एलिजाबेथ कुबलररास दो अमरीकी डॉक्टरों ने रोगियों के मरने के क्षणों के आधार पर बड़े ही आश्चर्यजनक तथ्यों का आविष्कार किया है। इन्होंने जो काम किया वह प्रत्यक्षरूपेण भौतिक शास्त्रियों परामनो-

वैज्ञानिकों और स्नायु-विशेषज्ञों से संबंधित न होकर भी, उस हालत में अपने महत्त्व और औचित्य को सिद्ध करता है, जब हम इन विभिन्न क्षेत्रों में जीवन का अर्थ और उसका हेतु समझने की कोशिश करते हैं। डॉक्टर मूडी और कुबलररास ने इस बात के प्रमाण इकट्ठे किये हैं कि मृत्यु के क्षणों में कैसा और क्या होता है। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि उनके निकाले हुए निष्कर्ष भारतीय योगियों के वचनों से पूरी तरह संगत जान पड़ते हैं।

इन अनुसंधान-प्रयत्नों के फलस्वरूप इस बात की संभावना पर्याप्त बढ़ गई है कि पूर्व की प्रतिभा ने 'विश्वनीडम्' अर्थात् एक सार्वभौम दर्शन की जो कल्पना हमारे सामने रखी थी, विज्ञान उसे बड़ी हद तक साकार कर सकता है। इस सबको देख-समझकर आश्चर्य के साथ-साथ यह दुःख भी होता है कि यह सारे अनुसंधान उन दूसरे देशों में हुए जिनके पास ऐसी प्रातिभपरंपरा नहीं थी। स्वाभाविक तो यही था कि इस तरह के अनुसंधानों का प्रारंभ भारतवर्ष से ही होता।

'देर आयद दुरुस्त आयद' के मुताबिक पिछले वर्ष इस त्रुटि के परिमार्जन के विचार से पहले कदम के रूप में भारतवर्ष में तीन संस्थाएँ स्थापित की गई हैं। पहली संस्था का नाम है 'प्राचीन अंतर्दृष्टि और आधुनिक आविष्कार' इसी के दो महीने बाद गांधी शांति प्रतिष्ठान ने इन नये आविष्कारों की प्रासंगिकता को समझने के विचार से अपने एक विभाग में अहिंसा की दृष्टि से विषमताएँ समाप्त करने की दिशा में जिनकी दिलचस्पी है, उन्हें काम करने के लिए आमंत्रित किया है और यहाँ पूरी भौतिक उन्नति के विकल्प के रूप में नैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में काम करनेवालों को सुविधाएँ देने का संकल्प किया है। इसी तरह अगस्त के महीने में महर्षि इंस्टिट्यूट ने 'वेद और विज्ञान' को विषय मानकर दस गोष्ठियों का आयोजन किया और उन गोष्ठियों में इस बात पर विचार किया गया कि समस्त संभावनाओं में चित्त या चेतन का क्या स्थान है। इस तरह कहा जा सकता है कि भारत में हमने भी शुरुआत कर ली है और बहुत मुमकिन है कि इस प्रारम्भ के परिणाम चकित कर देनेवाले सिद्ध हों। अवश्य ही इस दिशा में बढ़ते हुए इस बात की सावधानी रखनी पड़ेगी कि सादगी, नैतिकता और करुणा, जो हमारे अध्यात्म की नींव हैं, भली प्रकार समझ लिया जाये और भली प्रकार समझकर ही हम उनका कारगर उपयोग करें।

किशोरीदास वाजपेयी : अद्भुत् प्रादुर्भाव !

प्रो० राजनाथ पाण्डेय

कुछ दिन हुए एक महाशय ने आचार्य किशोरीदास वाजपेयी के सम्मान में समारोह का आयोजन किया था। मुझे भेजे अपने पत्र में आयोजक जी ने वाजपेयी जी को हिन्दी-जगत् का दुर्वासा कहा था। पत्र पढ़ने के बाद मैं सोचने लगा था कि क्या वाजपेयीजी को हिन्दी-जगत् का मात्र दुर्वासा कह, चुकता देना न्यायोचित मान लिया जा सकता है ? और क्या वे सचमुच दुर्वासा हैं और अगर वे दुर्वासा हैं तो क्या केवल दुर्वासा ही हैं ?

अंग्रेजी भाषा का एक मार्मिक शब्द 'फैनौमेना' है। यह यूनानी 'फेइनो' शब्द से अंग्रेजी में आया है। इसका अर्थ हिन्दी में 'अपूर्वदर्शन' या 'प्रादुर्भाव' होता है। वाजपेयीजी भी हिन्दी-जगत् में एक प्रादुर्भाव हैं। एक 'फैनौमिनन' हैं। हूबहू इनकी तरह हिन्दी में न पहले कोई हुआ है, और न कोई इस समय ही है। वस्तुत: वाजपेयी जी के निर्माण में ऐसे अनेक तत्त्वों का आभास मिलता है जो सामान्यत: लोगों में नहीं दिखाई देने से कोई शब्दकोशीय नाम नहीं पा सके हैं। यही वजह है कि लोग-बाग अपने-अपने सीमित ज्ञान के आधार पर इन्हें ठीक से आँक न सकने के कारण प्राय: 'बौड़म', 'झक्की', 'दुर्वासा', 'नारद', 'द्रोणाचार्य', 'महापण्डित' और कोई-कोई तो 'लंठ' तक कह डालते हैं। परन्तु इन शब्दों के चौखूटों में इन्हें कसकर जब उनका अवलोकन करते हैं तो देखने की अपनी-अपनी दूरी के अनुसार इनमें कुछ अतिरिक्त अद्भुत, दुर्लभ, अनदेखा और अनसोचा पाकर वे खीज उठते हैं। इनकी अलौकिकता पर नहीं, अपनी असफलता पर। तो इस पकड़ में न आ पानेवाले व्यक्तित्व को किस एक शब्द से अभिहित किया जाए ?

भुलक्कड़ भी : भुलाऊ भी

वाजपेयीजी भुलक्कड़ तो हैं ही, पर भुलाऊ, अर्थात् बराबर दूसरों को भुलावे में डालते रहनेवाले। वे परले सिरे के 'भुलाऊ' हैं। दुर्वासा, या नारद या

द्रोणाचार्य आदि के चरित्र तो स्पष्ट हैं किन्तु अस्पष्ट या पल-पल परिवर्तित चरित्रवाला कोई न तो हमारे देवताओं में है, और न किन्हीं किन्नर-मिथुनों अथवा विद्याधरों में ही। अश्विनीकुमारों में भी नहीं। हाँ, यूनानी मिथकों में एक है, यूनानी वरुण पोसिडिन का पुत्र 'प्रोटियेस'। सो वाजपेयीजी 'प्रोटियेस' जैसे भुलाऊ हैं। वाजपेयीजी के चरित्र में स्थूल कम सूक्ष्म अधिक है। वे चिन्मय हैं। शरीर के संग उनके चिन्मय का संयोग एक घटना या दुर्घटना-मात्र है। यही वजह है कि तराजू-बटखरा लेकर उनको तोलने का उद्यम करनेवालों को बराबर निराश रह जाना पड़ता है। स्थूल को तोलने वाले बांट-बटखरों से भला कहीं सूक्ष्म का संतुलन किया जा सकता है ? सूक्ष्म को तो हृदय के बांट-बटखरे बनाकर ही तोलना होता है। चिन्मय को चिन्मय से ही तोला जा सकता है।

वाजपेयीजी के मूल्यांकन में एक दिक्कत और भी है। वे पूर्णतः अ-पूर्व निश्चित (अनप्रिडिक्टेबल) भी हैं। ऐसा तो वे सोचेंगे ही, ऐसा तो वे मान लेंगे ही, इस तरह उनके बारे में सोच रखनेवाला व्यक्ति बराबर धोखा खा जाता है। बात यह है कि वाजपेयीजी का बौद्धिक तथा मानसिक स्तर और उन सबसे कहीं अधिक उनका नैतिक स्तर सामान्य से बहुत ऊँचा है। एक प्रसिद्ध फरांसीसी साहित्य-मनीषी पीव्रस जाकोबस झूबर (सन् १८३१ से १६०० ई० तक) की कही एक बात मानो वाजपेयीजी के लिए ही कही हुई है। उसने कहा है कि "सन्त जन कहते हैं। पुस्तकें नहीं लिखते। पुस्तकें तो सामान्य जन लिखते हैं जिनकी कृपा से ही हमारे पोथीखाने आबाद हैं। पुस्तक-लेखन और साहित्य-सृजन भिन्न हैं। पुस्तकें कलम लेकर कागज़ पर स्याही से लिखी जाती हैं जिनसे स्याही की बदबू आती है, जबकि साहित्य सत्पुरुषों के मानस के नन्दन-कानन में बहुत ऊँचाई पर कल्पवृक्ष की मंजरियों में निवास करता है।" वाजपेयीजी का लिखित भी उनके कथित के समक्ष नगण्य है। किसी भी सभा-समारोह में लोग कुछ भी कहें, कुछ भी प्रस्तुत करें, वाजपेयीजी का सर्वथा मौलिक तथा निराला दृष्टिकोण सबके ऊपर गालिब हो लहरा उठता है। 'गालिब' के ही शब्दों में :

हुई मुद्दत कि 'गालिब' मर गया पर याद आता है।
वो हर इक बात पै कहना कि यूं होता तो क्या होता !

वाजपेयीजी के साथ बैपरनेवाले लोग भली प्रकार जानते हैं कि उनके संग निबाहना तो आसान है, परन्तु उन्हें प्रसन्न कर लेना कठिन है। चीन के महान् चिन्तक सन्त कुङ्ग-फूत्जू (अंग्रेजी में कनफ्यूसियेस, ईसा पूर्व ५५१ वर्ष से ४७६ वर्ष तक) ने महत् जनों और सामान्य जनों के स्वभाव में अन्तर बताते हुए एक यह बात भी कही थी कि "सामान्य जनों को खुश कर लेना तो आसान होता है किन्तु उनके साथ निबाह पाना (उनके अधीनस्थ रहकर कार्य करना) कठिन हो जाता है;
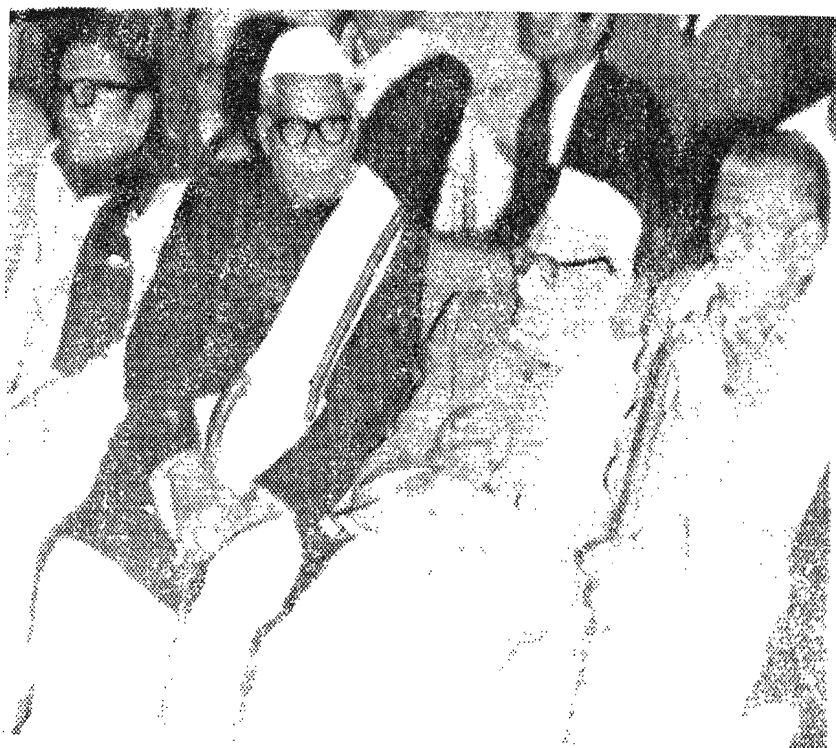
आचार्य वाजपेयी (दायें प्रथम) तथा डॉ० उदयनारायण तिवारी (बायें से प्रथम)। वाजपेयीजी के दायें पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी के दायें राजनाथ पाण्डेय

जबकि महत् जनों को खुश कर लेना तो आसान नहीं हो पाता परन्तु उनके साथ निबाहना आसान रहता है।"

शिशु भोलानाथ

वाजपेयीजी के स्वभाव में एक अन्य विरल तत्त्व उनका गरुपन अथवा परिहास-राहित्य है। उपन्यासकार सोमरसेट माम ने अपने किसी उपन्यास में कहा है कि अति गंभीर हो जाना भी उपहासास्पद हो जाना हुआ करता है। उसका तर्क है कि विधाता ने सृष्टि का निर्माण केवल 'चुहल' (फ़न) में किया है, अतः विधाता के बनाये हुए जीवों को भी यहाँ अपना जीवन चुहल-पहल में ही बिता देना चाहिए। बात थोड़ी सही भी है। अतिशय गांभीर्य कभी-कभी वाजपेयीजी को उपहासास्पद जरूर बना देता है। सन् १९३६ई० में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के

२८वें काशीवाले अधिवेशन में हमें वाजपेयीजी का प्रथम दर्शन उस समय प्राप्त हुआ था, जब आप नागरी-प्रचारिणी सभा को आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा दिये हुए महत्त्वपूर्ण कागजों के बस्तों के गुम कर दिये जाने के विरोध में सभा के इस कारनामे को उजागर करने हेतु पंडाल में लाल पर्चे बाँट रहे थे।

किन्तु यही अति गंभीरता वाजपेयीजी के शिवशंकरत्व का प्रमाण भी है। सोमरसेट माम ने नारायणी-लीला का अपनी बुद्धि के अनुसार जो मर्म समझा है उसका उल्लेख तो किया है, किन्तु शिव-चरित्र की अति गहनता तक उसका प्रवेश नहीं हो पाया है। हमने शिव के चरित्र में कहीं भी हास-परिहास का लेश भी नहीं पाया है। वाजपेयीजी की यही विरल गंभीर परिहास-रहित प्रवृत्ति उन्हें नीलकंठ शिवशंकर की गरिमा से मण्डित करती है। इसी के तेज से उन्होंने अनेक बार हिन्दी की वेलि पर उँडेले जा रहे विषधर का जहर पी-पीकर पचाया और हिन्दी को विनाश से बचाया है। अपने सहपाठी राहुलजी के ही समान वाजपेयीजी ने भी जितना साहित्य रचा है उसका हजार गुना जीवन जिया है।

शंकर के गाम्भीर्य एवं निस्पंदन के साथ-साथ वाजपेयीजी में शिशु का भोलानाथपन भी आसन्न है। बहुत ही दिनों पहले की बात : एक बार भगवान् शिशु-भोलानाथ अपना झोला-झंडा लिये (केवल शिशुओं के मनोरंजनार्थ) मर्त्यलोक में विचरण करने लगे थे। एक बालक ललचाये नयनों से बाबाजी के झोले को निहारता हुआ सामने आकर खड़ा हो गया। उसने पूछा :

बाबाजी के बटुआ में का का चीज ?

आपके बटुए में क्या-क्या 'चीज' है बाबा जी ?

समझनेवाले इस 'चीज' (चीज नहीं) शब्द की व्यंजना की सराहना करेंगे। काशी में 'चीज' या 'चिज्ज' बालकों और शिशुओं की भाषा में, मिठाई का पर्याय है। सो बाबाजी ने उस शिशु भोलानाथ के हाथों में अपना बटुआ ही धर दिया था। परन्तु उसे बारी-बारी से सभी बालकों ने टटोला और उन्हें उसमें अपने लायक कोई 'चीज' नहीं मिली तो, उदास हो उन्होंने बाबा को उनका बटुआ (झोला) लौटा दिया और वे बाबा के पीछे-पीछे ताली पीटते-चिल्लाते हुए कहते जा रहे थे :

बाबाजी के बटआ में का का चीज ?
भाँग भभूत धतूरवा कजीज ॥

और बाबा ने भी एक छिन ठहरकर, निखिल ब्रह्माण्ड की ऋद्धि-सिद्धि अपने हाथों में पाकर भी लौटा देने के उन बालकों के भोलेपन पर निहाल हो, उन सबके माथे पर अपने झोले की भभूत का एक-एक हल्का-सा टीका लगा दिया था। और उन्हीं बालकों में से कोई वाल्मीकि हुआ था और कोई वेद व्यास। उन्हीं में से कोई शंकर हुआ था और कोई कालिदास। उन्हीं में से कोई कबीर हुआ और कोई

तुलसीदास। और हमारे भोलानाथ वाजपेयीजी के बटुए में तो भाँग और धतूरा के बीज की कौन कहे, कभी-कभी तमाल-पत्र तक नहीं रहता। किन्तु भभूत तो उनके बटुए में भी पर्याप्त है। वही भगवान् शंकर-जैसी भभूत जिसके सम्बन्ध में बाबा तुलसीदास ने कहा है :

सुकृत संभु तन विमल विभूती।
मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥

और बालकोचित सारल्य तथा भोलेपन के बल पर जिस बड़भागी को चुटकी-भर यह विमल विभूति बाबा वाजपेयी के बटुए से मिल गई जानो उसका भी मुद मंगलमय जीवन मंजुल और धन्य हो गया। मानव-तन में शिवशंकरत्व मंडित इस महामानव के प्रति हम हजारों-हजार मस्तकों से विनत हैं।

सागर की लहरों पर हँसता-गाता त्रिनिदाद

डॉ० हरगुलाल गुप्त

ओ त्रिनिदाद
खूबसूरत त्रिनिदाद
संस्कृतियों के महान् संगम त्रिनिदाद
तुममें सागर की विशालता
वृक्षों की हरीतिमा
और मनष्य की उदारता
झिलमिलाती है,
वह मायावी रोज़ चुपके से आकर
तुम्हारे आँगन में
एक इन्द्रधनुष टाँग जाता है
जिसकी मधुरिमा बहुत गहरे
मेरे अंतस में पैठ जाती है
और तुम सागर की अँगूठी में जड़े नग की तरह
उसकी पदचाप गिनते रहते हो। —(हरगुलाल)

संयुक्त राज्य अमेरिका के फ्लोरिडा तथा मयामी क्षेत्र से दक्षिण-अमेरिका के वेनीन्ज़ुला तक एक लम्बी पंक्ति में बसे अनेक द्वीप वेस्ट इंडीज़ (पश्चिमी द्वीप-समूह) कहलाते हैं। इन सभी द्वीपों में बहुतायत से गन्ने की खेती होती है। मई-जून के महीने में छोटे-छोटे गन्ने के पौधे बादलों से आँख-मिचौनी, बरसते पानी का दुलार और कड़कती धूप की थपकियाँ सहते-सहते पलक झपकते न मालूम कब आसमान की ऊँचाई मापने लगते हैं और उतनी ही तीव्रता से भरने लगते हैं अपने मालिक के मन में आशाओं का सुनहरी खज़ाना। इन जगहों पर गन्ने की खेती अधिकतर भारतीय मूल के लोग ही करते हैं, जो उन्नीसवीं शती के मध्य में गीता, रामायण,

भागवत, तुलसी-माला तथा रामनामी चादर सहेजकर उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मद्रास तथा पंजाब से आये थे और आज तक अपने सांस्कृतिक रूप से बड़े स्नेह के साथ संलग्न हैं। वर्ष-भर एक-एक सप्ताह तक चलनेवाले 'गीता-यज्ञ' में कर्म का ठोस उपदेश, रामायण-यज्ञ के समय 'मानस' की आरती में 'आरत कीजे रामायन जू की' मधुर स्वर-लहरी, महाभारत-यज्ञ में व्यासजी कहत भये की लरजती स्वर भंगिमा, दशहरा पर समृद्ध रामलीला का सतरंगी प्रदर्शन, दीपावली पर घर के आँगन से चारों ओर बिखरता दीपकों का मधुर प्रकाश एवं चौताल तथा फगुआ गायन प्रतियोगिताओं में 'अवध में होली खेलें रघुवीर' आदि लोकगीतों का मधुर स्वर चारों ओर से उत्साह के महार्णव में घुमड़ने लगता है। मन-पाँखी इनका रस पीते-पीते एक प्रकार की उन्मत्तता का अनुभव करता है और फिर उमड़ने लगता है भारत से दूर भौगोलिक सीमाओं को पार करता सांस्कृतिक अपनत्व। तभी तो "नमस्ते जी", "कहिए आप कैसे हैं", और "त्रिनिदाद आपको कैसा लगा" जैसे प्रश्नों को हृदय की गहराई से पूछकर यहाँ के निवासी अपनापन महसूस करते हैं। 'शगु-आना' 'साँवा', 'पिनाल' और 'प्रिन्सिस टाउन'-जैसी बस्तियों में लोग भारत के बारे में गहरी दिलचस्पी रखते हैं।

त्रिनिदाद-टुबेगो करेबियन सागर में स्थित द्वीप-समूहों के दक्षिण में स्थित है। करेबियन सागर, ओरिनाको चैनल, अटलांटिक सागर तथा गल्फ ऑफ पारिया से घिरा यह द्वीप क्षेत्रफल में १९८० वर्गमील है। कोलम्बस ने इस द्वीप का अन्वेषण अपनी तीसरी जल-यात्रा के दौरान किया था। उसने अपने बेड़े का लंगर दक्षिण त्रिनिदाद की मरूगा-बे पर डाला था। वहीं पर उसने पहली बार तीन शिखरों का दर्शन किया और इस "होली ट्रिनिटी" के सम्मान में इस द्वीप का नाम 'ला त्रिनिदाद" रखा। यहाँ से हिस्पा नियोला की यात्रा करते हुए उसने ११६ वर्गमील क्षेत्रफल के टुबेगो की भी खोज की। इस देश के आदिवासी "अरावाक" और 'कैरिब' कहलाते थे, पर कोलम्बस की शब्दावली में वे इंडियन ही थे। इस द्वीप पर स्पेनिश, फ्रेंच और अंग्रेजों ने राज्य किया। श्रमिक-समस्या का समाधान करने के लिए स्पेनिश शासकों ने अफ्रीका से तथा अंग्रेजों ने भारत से श्रमिक यहाँ बुलाये। 'फेटाल रोज़ाक' नामक प्रथम जलपोत जो कलकत्ता से १८४४ में चला था पूरे एक वर्ष बाद २१३ स्त्री, पुरुष और बच्चों को लेकर 'पोर्ट ऑफ स्पेन' (त्रिनिदाद की राजधानी) पहुँचा। यही कारण है कि इसके यात्री एक-दूसरे के लिए 'कलकतिया' शब्द का इस्तेमाल करते रहे। इसके बाद ३ वर्षों में यहाँ लगभग ५ हजार भारतीय शर्तबंद मजदूर गन्ने के खेतों में कार्य करने के लिए इस आश्वासन के साथ लाये गये कि पाँच वर्ष के बाद अगर वे लौटना चाहेंगे तो मार्ग-व्यय भी दिया जायेगा। बाद में कुछ लाग लौट भी गये और बहुत-से सरकार से कृषि योग्य भूमि पाकर

यहीं बस गये। उन दिनों इन लोगों की अपनी पंचायत होती थी, शादी-ब्याह, मुंडन, नामकरण, कर्ण-छेदन आदि पर बहुत-से नेग-टेग होते थे, अपने घरों को लीपते-पोतते थे, शुभ अवसरों पर पंडित को बुलाते, पीले चावल देकर पंडित से 'न्योता' भिजवाते, स्त्री-पुरुष हाथ पर लीला गुदवाते, 'कलेऊ' करके काम पर निकल पड़ते और शाम को एक जगह चौपाल पर कभी रामायण सुनते, तो कभी वातावरण में रसिया, राजा भरथरी, आल्हा, कजरी और बिहुला के मार्मिक गान वातावरण में छितर जाते। मूलचंद ट्रेस, कटवारो ट्रेस, पिनाल आदि स्थानों पर आज भी 'झाल' रामायण गानेवाले पुराने गायक मिल जाते हैं। मूलचंद ट्रेस पर मेरे समक्ष 'राजा कंस' नामक नाटक मार्मिक हिन्दी लोकगीतों के साथ प्रस्तुत किया गया और दूरदर्शन के 'मस्ताना बहार' कार्यक्रम मे एक बार 'राजा हरिश्चन्द्र' लोकनाट्य के रूप में अभिनीत किया गया।

सैन-जुआन या साँवा (संक्षिप्त नाम) त्रिनिदाद की काफी पुरानी बस्ती है। साँवा के बाजार में आप निकल जाइये आपको ऐसा लगेगा कि आप भारत के किसी छोटे शहर, जैसे—अलीगढ़, बस्ती या आजमगढ़ के बाजार की सैर कर रहे हैं। हरे काँच अथवा प्लास्टिक की लाल चूड़ियाँ, खिलौने, तोरई, लौकी, काशीफल, प्याज, उड़द की दाल, अरहर की फलियाँ, तरबूज, आम, नारियल, और कोई-कोई शीशे की पेटी में लड्डू, जलेबी, पेड़ा तथा खुरमा तक बेचता है और तारीफ यह है कि उतनी ही खूबी और स्नेह से इन मिठाइयों का नाम लेते हैं। अब धीरे-धीरे इन मिठाइयों के बनाने का चलन बहुत कम लोगों में ही शेष रह गया है। शादी के अवसर पर भारतीय मूल के लोग कारों में ग्रामोफोन लगाकर दुल्हन के घर दूसरे गाँव में आज भी बारात ले जाते हैं और 'गोरी चली परदेश' का स्वर रिकार्ड की लकीरों मे बाहर निकलकर पर्वतों की हरियाली, तो कभी 'वीथम' हाई-वे, तो कभी सैंग्रे ग्रांडे के ऊँचे-नीचे सर्पीले मार्ग पर अधिकतर सुनाई पड़ जाता है। कितने खुश होते हैं कारों में बैठे बालक, स्त्री, पुरुष और बधू बाराती, उनका हँसी-मजाक और खुश होने का तौर-तरीका वैसा ही होता है जैसा भारत में लम्बे मार्ग पर जानेवाले बारातियों का होता है। दूल्हा पगड़ी बाँधता है और बहू के साथ आग के फेरे लेता है। इस तरह का विवाह, जो ज़मीन पर बैठकर पूरा किया जाता है, 'बैम्बू विवाह' कहलाता है और दूसरे प्रकार का विवाह मेज-कुर्सियों पर होता है। मंडप में वर-वधू सम्बन्धियों के साथ मेज-कुर्सियों पर बैठते हैं और वहीं 'अगियारी' मँगाकर प्रतीक रूप में यज्ञ-परिसम्पन्न किया जाता है तथा एक-दूसरे के प्रति वचन-प्रतिबद्धता उच्चरित की जाती है। विवाह का रजिस्ट्रेशन दोनों ही स्थितियों में होता है। विवाह के अवसर पर सिपारिया, पिनाल, मलाबार, पोइन्ट फोर्टीन, प्रिन्सिसटाउन, कैलिफोर्निया आदि स्थानों में ढोलक पूजना, भट्टी एवं कूँआ पूजना, कँगना बाँधना, वर-

वधू पर हल्दी चढ़ाना-जैसे कुलाचार अनेक वर्षों की सीमा-रेखा पार कर आने के बाद आज भी परिसम्पन्न किये जाते हैं। वृद्धाएँ इस अवसर पर परम्परागत लोक-गीत गाती हैं।

सारे त्रिनिदाद में २५० से अधिक मंदिर हैं। शाम के समय शंख, घड़ियाल की मधुर ध्वनि के बीच आरती के बोल घृत-दीप के सहारे चारों ओर बिखर जाते हैं। रामायण, महाभारत, भागवत अथवा किसी पुराण-यज्ञ के अवसर पर प्रसाद तथा चरणामृत का वितरण बहुत आदरपूर्वक होता है, लोग भक्तिभाव से आरती गाते हैं और फिर बिखर जाते हैं। वातावरण में 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' के स्थायी स्वर। कार्तिक स्नान तथा मकर संक्रान्ति के अवसर पर सभी समुद्र-घाटों, विशेष रूप से 'शगरामा' पर काफी भीड़ होती है। लोग फूल का दोना समुद्र में सिराते हैं, रंग-बिरंगे फूलों का इन्द्रधनुष पहली बार इन अवसरों पर मैंने जल में उतरते देखा। यहाँ रामलीला खेली जाती है और आतिशबाजी के बीच रावण जलाया जाता है। दीपावली पर हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई सभी अपने मन का पुलक एक-दूसरे को बाँटते हैं।

हिन्दी सीखने की रुचि को देखते हुए त्रिनिदाद करेबियन देशों में सबसे आगे है। त्रिनिदाद की गलियों में हॉट रोटी, दक्षिण त्रिनिदाद में 'दिया' (दीपक), साग-भाजी, दाल-भात, तरकारी, पीढ़ा, चटनी, गुरुजी, पंडितजी, दक्षिणा, घी, मधु, परनाम (प्रणाम), सीताराम एवं इन्द्र, तारा, शोभा, माला, भद्रा जैसे संस्कृतनिष्ठ नाम एवं नैत्यिक उपयोग की चीजों के नाम सुनकर आप सहज ही अनुमान लगा लेंगे कि आपके चारों ओर हिन्दी भाषा-भाषी लोग उपस्थित हैं। सनातन धर्म महासभा के ४३, आर्य प्रतिनिधि सभा के ६ और कबीर-पंथ के ३ स्कूलों में आधा घंटा धार्मिक शिक्षा का होता है। सनातन धर्म एसोसिएशन की 'हिन्दी विद्या' नामक उप-शाखा ने १६७४ में देश-भर में हिन्दी वाद-विवाद प्रतियोगिताएँ आयोजित कीं। वर्तमान में ये सभी इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं कि इनके स्कूलों में अध्यापक हिन्दी सीखें, जिससे कि छात्रों को हिन्दी सिखाने में किसी तरह की कठिनाई का अनुभव न हो। इस उद्देश्य की आपूर्ति के लिए अध्यापकों तथा पंडितों को हिन्दी में प्रशिक्षित करने के लिए कई केन्द्र स्थापित किये गये हैं। महिलाओं को हिन्दी सिखाने के लिए लक्ष्मी गर्ल्स कॉलिज में हिन्दी कक्षा प्रारम्भ की गई है। इसी सभा के 'हिन्दू' नामक मासिक पत्र में सर्वसाधारण को हिन्दी सिखाने के लिए हिन्दी पाठ प्रकाशित किये जाते हैं। 'नेशनल काउन्सिल ऑफ इंडियन कल्चरल फॉर त्रिनिदाद ऐंड टुबेगो' रेडियो से हिन्दी पाठों के प्रसारण की योजना बना रही है। हिन्दी के प्रचारार्थ अपने दर्जनों व्याख्यानों, लेखों, प्रशिक्षण-केन्द्रों, संगोष्ठियों, दूरदर्शन, रेडियो आदि के साक्षात्कारों के अतिरिक्त

दक्षिण त्रिनिदाद के विभिन्न भागों, जैसे—प्रिन्सिसटाउन, सिपारिया, केप-डि-विल, सैन फरनाण्डो, माराबैला, कैलिफोर्निया, बैरकपुर, अरुका, सैंग्रे ग्रांडे, पिनाल, कूवा आदि में फगुआ तथा चौताल प्रतियोगिता-सम्बन्धी विविध लोकगीतों को सुनकर, विशेष रूप से उनके सही उच्चारण को सुनकर, मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है। पिछले एक सौ पैंतीस वर्षों से इनके लोकगीत, लोक-नाट्य, संगीत-वाद्य, पूजा-विधि, संस्कार, त्योहार, वेशभूषा, रीति-रिवाज आदि बिना किसी परिवर्तन के ज्यों-के-त्यों आरक्षित हैं, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। यहाँ लगभग दो दर्जन छवि-गृहों में हिन्दी फिल्में दिखाई जाती हैं। 'अमर-अकबर-एंथनी' फिल्म एक साथ १२ छवि-गृहों में प्रदर्शित की गई। यहाँ प्रति रविवार को दूरदर्शन से हिन्दी फिल्म दिखाई जाती है। 'मस्ताना बहार' तथा 'इंडियन वेराइटी' नामक कार्यक्रमों में बहुत-से स्थानीय कलाकार खुद ही भारतीय फिल्मी गीतों अथवा नृत्यों का अनुकरण करके उन्हें आकर्षक ढंग से दूरदर्शन पर प्रस्तुत करते हैं।

त्रिनिदाद-जैसे अनेक देशों में जहाँ भारतीय मूल के लोग काफी संख्या में हैं भारत सरकार हिन्दी के प्रचारार्थ पुस्तकों, रिकार्ड्स, टाइप मशीनों, छात्रवृत्तियों आदि का अनुदान देती आई है, पर इस महान् कार्य में नये आयाम की संसृष्टि उस दिन हुई जिस दिन हमारे माननीय विदेश-मंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी ने स्वातन्त्र्योपरान्त पहली बार संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा के ३२वें अधिवेशन में हिन्दी के माध्यम से विश्व को समता और बंधुत्व का संदेश दिया। मुझे वह क्षण हमेशा याद रहेगा जब सेंट जेम्स हिन्दू मंदिर की मेरी हिन्दी कक्षा के एक छात्र ने प्रसन्न मुद्रा में कहा—"आज आपके विदेश-मंत्री सारे संसार को हिन्दी में सम्बोधित कर रहे हैं।" और मेरे चेहरे पर थिरकते पुलक के बीच अनायास ही मुख से निकल पड़ा था कि भारत के एक सपूत ने शिकागो में काफी पहले भारतीय संस्कृति का जयनाद किया था और आज उसी के दूसरे सपूत ने विदेश-मंत्री के रूप में स्वभाषा हिन्दी तथा 'जय जगत्' का उद्घोष किया है। आत्मगौरव की स्वीकृति के इतिहास में ये दोनों घटनाएँ अभूतपूर्व मानी जाती रहेंगी; आत्मगौरव की स्वीकृति रचनात्मक शक्ति अर्जित करने के लिए अपने समग्र प्रारूप को सँवारने के लिए नितान्त अपरि-हार्य है।

त्रिनिदाद हरियाली में खोये नीले सागर से घिरा रंग-बिरंगे 'हमिंग बर्ड' जैसे छोटे-मोटे पक्षियों का देश है। एक मिनट में न मालूम कब कड़कता सूरज बादलों की चादर ओढ़ लेगा और न मालूम कब घनघोर वर्षा धरती की तपन बुझाने लगेगी, यह कोई नहीं जानता। एक विशेष 'उमस' और शीतल 'बयार' के मुक्त झोकों से परिचित होने के बाद मन खुद ही स्टील बैंड की धीमी-धीमी

मादक लहरी में खो जाता है और फिर भाव-प्रवण बिम्बों के योग से कार्निवल के चटकीले रंग सजाने लगता है। सचमुच ही यह देश कार्निवल का देश है। जुलाई से दिसम्बर तक बरसात और जनवरी से जून तक शुष्क मौसम रहता है। फरवरी में 'स्टील बैंड' पर लकड़ी के चट्टों से आघात करने पर वह 'जल तरंग' सा बजने लगता है और फिर उसी धुन में इस देश के बालक, स्त्री, पुरुष रंग-बिरंगी चटकीली पोशाकों में फूल-पत्ती, तितली, मधुमक्खी तथा पशु-पक्षियों की अभूतपूर्व झाँकी सजाकर जब नाचते-गाते पोर्ट ऑफ स्पेन (राजधानी) के 'सबाना' पार्क से गलियों में निकल पड़ते हैं तो एक समाँ-सा बंध जाता है। इस उत्सव में सम्मिलित होने के लिए पर्यटक कनाडा, यू० एस० ए०, यू० के०, लैटिन अमरीका आदि से आते हैं और दो दिन यहाँ रहते हैं। कार्निवल की झाँकियाँ सुन्दर कारीगरी की दृष्टि से संसार-भर में प्रसिद्ध हैं। इस अवसर पर 'कैलिप्सोज़' (एक विशेष गान) प्रतियोगिताएं आयोजित होती हैं। इस तरह देश के विभिन्न भागों में कार्निवल खूब धूमधाम से मनाया जाता है।

चीनी, पेट्रोल, कॉफी, कोको, मौसमी, केला आदि यहाँ की आय के विभिन्न स्रोत हैं। यहाँ का विशाल तेल-शोधक कारखाना संसार-भर में प्रसिद्ध है। 'पिचलेक' नामक तारकोल की झील भी काफी प्रसिद्ध है। गर्म तारकोल की झील के बीच उगे घास और पौधे मन में उतना ही औत्सुक्य भरते हैं जितना वर्ष-भर आम के वृक्षों में लगनेवाले फल मन को बरबस अपनी ओर खींचते हैं। खाने-पीने और रोजमर्रा की बहुत-सी उपयोगी चीजें यहाँ बाहर से आती हैं। सारे देश में 'कृपलानी' नामक स्टोर का जाल-सा बिछा है, जिनमें भारतीय कपड़े, सज्जा के विभिन्न उपकरण और चमड़े की चीजें काफी लोकप्रिय हैं। यहाँ मूर्तियों, पूजा के विभिन्न उपकरणों, वाद्य-यन्त्रों, धार्मिक पुस्तकों तथा चित्रों आदि की प्रचुर मांग है। यों तो विज्ञान के बढ़ते चरण संसार के दूसरे भागों की तरह यहाँ भी अनेक सुविधाएं प्रदान करते हैं, पर इस देश पर जो 'चँदोवा' तना है वह विभिन्न संस्कृतियों के संगम से बना है जिसकी मधुरिमा अनन्तकाल तक विश्व को समता और सौहार्द का संदेश देती रहेगी। अनेक संस्कृतियों के अनुवर्ती जितने मेल से इस देश में रहते हैं, वह सारे संसार के लिए अनुकरणीय है।

वेल्स···एक छोटा हिन्दुस्तान

गोविन्द मिश्र

ब्रिस्टल से कार्डिफ़ के लिए जाते समय रेल में सामने की सीट पर एक लंबी नाक-वाली महिला थी—मूर्ति होने की हद तक रिज़र्व। दूसरी तरफ एक व्यक्ति बैठा था जिसकी आँखें और बाल दोनों भक्क-भक्क खुलते थे···उसी रफ्तार से उसका मुंह चलता था। मैंने सामनेवाली महिला से गाड़ी के कार्डिफ़ पहुंचने का समय पूछा। वह सिर्फ कंधे उचकाकर रह गई; हालाँकि वह भी वहीं जा रही थी। मेरी बात सुनते ही, मैंने देखा सामने का वह व्यक्ति जैसे मुझ तक आँखों से जवाब पहुँचाने को कसमसाया जा रहा हो। थोड़ी देर जब्त करता रहा···फिर उससे रहा नहीं गया। वहीं से उचककर बोला—"करीब छह बजे—मैं भी वहीं चल रहा हूँ।" क्या वह हिन्दुस्तानी था···वही दबा-दबा गोरा रंग···बातचीत करने की वही हुलफुलाहट। वह कहीं खुद को मुझसे जोड़कर प्रसन्न भी था। महिला अंग्रेज थी और वह वेल्श था।

कार्डिफ़, वेल्स की राजधानी। स्टेशन पर यहाँ की ब्रिटिश काउंसिल की तरफ से स्वागत के लिए एक प्रतिनिधि था। उसकी कार स्टेशन से थोड़ी दूर खड़ी थी। वहाँ तक हम दोनों ने बारी-बारी से अटैची को लिया···कुछ असबाब ज्यादा ही हो जाता है हम हिन्दुस्तानियों के साथ। चलो रात के उस अँधेरे में कोई लेने तो आया था, वर्ना किसी होटल का नाम पकड़ा दिया जाता·· बस।

स्टेशन से सीधा एक पार्टी में ले जाया गया। लोगों में मेरे आने को लेकर पहले से ही काफी उत्साह था। यहाँ का प्रोग्राम तय करनेवाली महिला जिससे फोन पर कई बार बातचीत हुई थी और जिसकी खुनखुनाती हुई आवाज से उसके रूप और उम्र के बारे में तरह-तरह की कल्पनाएँ भी मन में उठी थीं, उससे मिलने पर सोचा, आवाज की वह गर्मी उम्र या सौन्दर्य की वजह से नहीं अतिथियों के लिए वेल्स की आम स्वागत-भावना की वजह से थी। इसीलिए मुझे स्टेशन पर लेने

के लिए कोई आया था। इंगलैंड में ऐसे सत्कार के मौके नहीं के बराबर मिले थे। पार्टी में मुझे काफी उत्साह से एक-एक के पास ले जाकर मिलाया जाता रहा।

रिशमंड होटल···घरों की एक बस्ती में एक और बड़ा घर। नीचे मकान-मालिक के यहाँ भी कोई पार्टी चल रही थी। कमरा देखकर अलबत्ता जान-में-जान आई, खुला और काफी गर्म। इरादा था कि यहाँ खूब जमकर आराम करूँगा लेकिन तभी कमरे में दस्तक हुई। एक भारतीय भैया जो बगल के ही कमरे में ठहरे हुए थे, आ गये—श्री सरकार। तीन-चार दिन पहले से ही मेरा इन्तजार कर रहे थे, बात करने को बेताब। बेचारा हिन्दुस्तानी! बात किए बिना गुज़ारा कैसे हो। सरकार एक मिनट के लिए भी चुप नहीं रहता था जैसे कि पिछले दिनों की सारी भड़ास निकाल रहा था। सवेरे सेंटफैगन्स चलने के लिए भी तैयार हो गया। कल पूरे दिन साथ रहने के बारे में आश्वस्त होकर ही वह रात को अलग हुआ।

सवेरे छप्परों पर बिछी हुई फ्रॉस्ट थी···कहीं सफेद थोकड़ों में जमी हुई, कहीं चमकते हुए काँच के टुकड़ों में छितरी हुई और कहीं धीरे-धीरे पिघलती हुई। बस अड्डे पर सेंटफैगन्स के लिए बस के इन्तजार में पूरा एक घंटा खड़ा रहना पड़ा। सरकार हर मिनट बात करता रहा, अपनी ट्रेनिंग का एक-एक डिटेल बताते हुए।

सेंट फैगन्स एक छोटा-सा गाँव है। जिस इमारत में म्यूजियम है वह एक ज़माने में कासल था। पुराना फर्नीचर, पुराना रसोई का सामान और पुरानी ही अदा में सजे ड्राइंग-रूम, लांग गैलरी, पार्लर, बैड रूम्स आदि। कासल के बगल में एक छोटा-सा बगीचा जिसकी सारी हरियाली पर फ्रॉस्ट घास की एक और तह की तरह बिछी हुई थी। म्यूजियम की असल चीज है कासल के पीछे अपने पूरे प्राकृतिक सौंदर्य में फैला हुआ जंगल और उसमें जहाँ-तहाँ बनी हुई झोपड़ियाँ। नीचे उतरते ही एक झरना पड़ा जो बड़े-बड़े पाँड्स में जैसे कैद कर लिया गया था। तैरती बतखें—पीली, लाल, सफेद, काली-सफेद चोंचवाली···खूबसूरत। झरने के पार लंबे-लंबे दरख्तों का सिलसिला, हरियाली और पेड़ों के बीच गुज़रता हुआ रास्ता। ऐसे ही चारों तरफ घने लंबे-लंबे दरख्तों के बीच एक छोटी-सी घाटी में फार्म-हाउस बनाए गए हैं—वैनबिगशाइर का एक फार्म-हाउस, ब्रेकनशाइर की एक ऊन की मिल और इसी तरह कई शाइरों के खेतिहरों के मकान···वैसी ही लकड़ी और फर्नीचर में, जैसे ज्यों-के-त्यों उतारकर इस पृष्ठभूमि में चिपका दिए गए हों। ये मकान हमें एकदम पिछले जमाने की ग्रामीण सभ्यता में ले जाते हैं। आज के देहाती इलाके में तो खैर शायद ही ऐसा कुछ देखने को मिले। उन पर्यटकों को जिनके पास कम समय है और जो वेल्स के देहात का जायज़ा लेना चाहते हैं, उन्हें यह म्यूजियम ही सुझाया

जाता है। पुराने ढंग के रसोई घर में कहीं-कहीं बाक़ायदा आग जल रही थी और तापता हुआ बैठा था अकेला गाइड। कभी कुछ पर्यटक आ जाते तो फार्म-हाउस जैसे गुलज़ार हो जाता, गाइड में हरकत जाग उठती···उसके बाद वह फिर आग की चटचटाहट में खोता हुआ बैठ जाता—बैठकर ऊँघता रहता। एक-दो गार्डों से बातचीत भी हुई। उनमें अंग्रेजों के खिलाफ आग-ही-आग थी। मैंने उनके सामने आम शंका रखी—"क्या वेल्स आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर हो सकेगा?" वह भभक उठा—"तुम हिन्दुस्तानी हो; तुम भी तो पहले हमारी स्थिति में थे। नहीं जानते कि अंग्रेज सबके लिए यही बात फैलाते रहते हैं? उनसे पूछो, वेल्स का कोयला ढो-ढोकर कहाँ ले गये। फिर हम रहें या खत्म हो जायें इससे उन्हें क्या—वैसे भी क्या हम तबाह नहीं हैं?" यहाँ का एक इतना साधारण आदमी, एक कॉटेज का मामूली चौकीदार भी राजनीति पर इतने उग्र विचार रखता है!

गीली घास पर चलते हुए इर्द-गिर्द की पहाड़ियों पर नजर गई। यह छोटी-सी घाटी पहलगाँव-जैसी है—उतनी खूबसूरत जरूर नहीं; क्योंकि यहाँ न तो इतने ऊँचे पहाड़ हैं और न ही साफ-सुथरा किलकिलाकर बहता हुआ बर्फीला पानी।

म्यूजियम के रेस्तरां में खाना खाया। जंगल के बीचों-बीच एक आधुनिक-सी इमारत, काँच के पार से खुलता हुआ जंगल का विस्तार, देहात की ही तरह छका देनेवाला स्वादिष्ट खाना। रेस्तरां से सटा हुआ पुरानी पोशाकों और पुरानी खेती के औजारों का एक दिलचस्प संग्रह है। उसे देखकर धीरे-धीरे उसी रास्ते से बस अड्डे तक वापस। कार्डिफ़ के लिए बस दो घंटे बाद थी; हमने फेयर-वाटर तक पैदल चलने की सोची क्योंकि वहाँ एक और बस मिलने की आशा थी। खूबसूरत घुमावदार रास्ता, एक तरफ पहाड़ दूसरी तरफ खाई, खाई के पार फिर पहाड़। सड़क पतली है और तेज रफ्तार से गाड़ियाँ आती-जाती हैं, हालाँकि कम ही···फिर भी सड़क पर चलना तो मुश्किल ही था। एक पतली पगडंडी पर हम आगे-पीछे चल रहे थे। खेत से एक बैल मेरे हाथ हिलाने पर नाराज होकर घुड़घुड़ाया, कुछ कर नहीं पाया क्योंकि तारों के अन्दर बन्द था बेचारा!

सरकार का यहाँ किसी हिन्दुस्तानी से संपर्क नहीं होगा, यह जो मेरा अंदाज था, वह गलत निकला। शाम को वह मुझे यादव के घर ले गया। यादव मेरी उम्र का ही, हरियाणा प्रान्त से···कार्डिफ़ विश्वविद्यालय में रिसर्च के लिए आया और अब पढ़ा रहा है। एकदम शाकाहारी। बीवी और तीन बच्चों को भारत में छोड़कर एक साल से यहाँ है। घर की याद आती है लेकिन जमा हुआ है। हिम्मत की दाद देता हूँ—मैं तीन ही महीने में टें बोल गया हूँ, लेकिन बड़े भाई भी तो तीन साल के ख्याल से आये थे और अब आधे रास्ते में ही जाने की सोच रहे हैं। बड़ी ही

जल्दी अपनत्व और बेतकुल्लफी हमारे बीच हो गई, खाना खिलाये बगैर कैसे जाने देता। आखिर हम सबने मिलकर खाना बनाया। मैंने खीर बनाई--खूब मजा आया।

रात लौटकर टी०वी० में एल डोरेडो पर एक फिल्म और 'कैट ऑन हॉट टिन रूफ़' नाटक देखा। पहली में भटकते हुए लोग, दूसरी में शादी के तनाव में रिसते हुए।

इतवार को सरकार के ही साथ बैरी टाउनशिप की तरफ जाते एक टूर में शामिल हो गया। स्टेशन पर एक लम्बा-चौड़ा वेल्स किसी को लेने आया था। अपने आप ही हमारी तरफ बढ़ आया, दस मिनट में ही सब बता गया— वह कितने दिनों से यहाँ है —क्या करता है—उसका दोस्त जिसे वह लेने आया है— वह क्या करता है और हमारे बारे में भी काफी-कुछ पूछ लिया। यह अदा बिल्कुल भारतीयों-जैसी है। जब तक अपना सब-कुछ बता न दो···और दूसरे का भाँप न लो···तब तक चैन कहाँ। सभ्य लोगों को यह बात ताक-झाँक करने की फालतू-सी आदत लगती है··· लेकिन इससे हम अपनी दुनिया को किस आराम से विस्तार दे लेते हैं, भाई-चारे की भावना किस इत्मीनान से हमारे अन्दर बजने लगती है। क्या पता भारत जो हमेशा से खुला-खुला रहा आया उस रहस्य के पीछे यह मामूली-सी हमारी आदत ही हो।

बैरी टाउनशिप में हम बारह लोगों का स्वागत करते हुए कोई छह स्थानीय मेजबान थे। सबके पास अपनी-अपनी कार। उन्होंने हमें दो-दो करके बाँट लिया और इसके बाद घूमने के लिए हम उनके हवाले थे। हमारे साथ क्रिस थी--पूरा नाम क्रिस्तीना। उसकी कार में पहले डॉक्स देखने गए। समुद्र का खुला विस्तार। ब्राइटन के बाद समुद्र आज देखने को मिला। रेल से जरूर कई बार देखा था। डॉक्स के पार बैरी हाइलैंड। छुट्टियाँ बिताने के लिए यह एक मशहूर अड्डा है। खेमे आदि लगाने की ढेर सुविधाएँ यहाँ उपलब्ध हैं, एकदम व्यापारिक स्तर पर। क्रिस ने बताया कि हाइलैंड की वजह से बैरी कस्बा व्यवसायीकरण से बच गया। यह इलाका इतना खूबसूरत है कि वाकई अगर बैरी हाइलैंड-जैसा एक इलाका अलग से नहीं बसाया जाता तो यह पूरे-का-पूरा कस्बा पर्यटकों और पर्यटकों के इर्द-गिर्द तनते-फैलते बाजार से तुप जाता। बैरी एक छोटा साफ-सुथरा कस्बा है-—निर्दोष और बड़ा ही मासूम-सा। पैबिल-बीच पर थोड़ी देर चले—पहाड़ से लगा हुआ खूबसूरत कमर की तरह लचकीला और घुमावदार समुद्री-तट, छोटे-छोटे गिट्टीनुमा पत्थरों से पटा हुआ। समुद्र-तट के ऊपर जो बस्ती से सटे हुए पहाड़ी टीले हैं उन पर होटल और आरामदेह मकान बने हुए हैं। गर्मियों में यहाँ की रौनक का अन्दाजा लगाया जा सकता है। इतवार की उस उतरती हुई शाम में वहाँ सैर करने निकले हुए लोगों

की संख्या ठंडक को देखते हुए काफी थी। यहाँ की गिट्टियाँ समुद्र द्वारा तोड़ी गई पहाड़ की चट्टानों की ही होंगी। दूर समुद्र पर आनुपातिक फासले में तैनात तीन-चार नेवी के जहाज, दाहिनी तरफ समुद्र को अपनी तरफ लेने के लिए बढ़ता हुआ पहाड़ का हाथ···आत्मीयता से भरा हुआ। खूब ठंडी हवा।

कार से ही फिर कंट्री पार्क—उतार-चढ़ाव में पसरा हुआ एक जंगल, बीच-बीच में उतरते-चढ़ते लंबे-लंबे हरे मैदान। इसे 'पौंड कैरी कंट्री पार्क' कहते हैं। कैरी पुराने जमाने में यहाँ के आदिवासियों का कोई सरदार था। पौंड गेट को कहते हैं। यहाँ कभी उनकी बस्ती थी। पास ही में कैरी के ही नाम का एक छोटा-सा समुद्र-तट भी है। यहाँ के रहनेवाले पार्क का इस्तेमाल लम्बी सैर के लिए करते हैं। क्रिस ने बताया कि पर्यटकों की भीड़ बैरी हाइलैंड पर आकर रुक जाती है और असल घुमक्कड़ ही अन्दर पैबिल-बीच पर आकर जमते हैं। जो उनसे भी ज्यादा जिद्दी हुए वे शान्ति-लाभ के लिए इस पार्क में अड्डा जमाते हैं। ज्यादातर तो घूम-कर ही वापस बैरी हाइलैंड लौट जाते हैं।

पार्क से क्रिस के घर। क्रिस को अविवाहिता कहते हैं, पर है परित्यक्ता। कार्डिफ़ में पढ़ाती है, रोज आती-जाती है। यहाँ अपनी ८३ वर्षीय माँ के साथ रहती है। चाय में हमारा साथ देने के लिए उसने अपनी एक-दूसरी पड़ोसिन अध्यापिका को बुला रखा था। माँ उम्र के हिसाब से काफी जागरूक थी। बैठक में कोयले की आग के इर्द-गिर्द गपशप। यह ऐसा कस्बा तो नहीं है कि हीटर का इन्तजाम न किया जा सके लेकिन एक बरतन में कोयले को इकट्ठा करके रखने और फिर धीरे-धीरे जब-कभी कोयलों को आग में डालते जाना, आग को सहलाना—यह सब क्रिस की माँ के लिए काम का एक सिलसिला था। छुटपुट कामों का आदमी की जिंदगी भरने में कितना बड़ा योगदान होता है···भारत में ये काम गरीबी, असभ्यता···या ऐसी ही किसी चीज से जोड़ दिये जाते हैं। मशीनी सभ्यता आदमी में जिस लाचारी को पैदा कर रही है उसे देखते हुए आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों आदमी को वापस हाथ के इन कामों पर आना पड़ेगा। हमारा दुर्भाग्य, कि भारत के शहरी मशीनी आरामों के लिए यूरोप की नकल करने पर तुले हुए हैं!

सरकार मूड में था। बातें—हर किस्म की बातें। विवाह नामक संस्था की बातें और हिन्दुस्तान की झरती हुई तारीफ। अजीब बात है कि अपने देश में रहते हुए हम अपनी चीजों के लिए झुंझला-झुंझला पड़ते हैं, यहाँ तक कि एक हमेशा चिपकी रहनेवाली कंठा लिये भी घूमते हैं लेकिन यही सब चीजें विदेश में पहुँचते ही इतनी महत्त्वपूर्ण लगती हैं और उनके गुणों का बखान हम इस तेजी से करते हैं जैसे कि सिर्फ उनमें अच्छाई-ही-अच्छाई हैं, बुराई का कोई पक्ष नहीं। क्रिस के भाई भी हैं लेकिन माँ यहीं लड़की के पास रहती हैं। माँ ने वहाँ की एक कहावत

बताई—"A son is a son till he meets his wife; a daughter is a daughter all her life."

चाय के साथ ड्रॉप-कॉर्न की बनाई हुई रोटी— हिन्दुस्तानी मठरियों-जैसी। मक्खन और जैम के साथ खाते हैं। मैंने नमक लगाकर खाया। अच्छी लगी, एकदम पुंगू रोटी-जैसी। यहाँ के लोग हर चीज को मीठा कर डालते हैं···शायद जलवायु! क्रिस की सहेली से उस विषय पर बहस होने लगी, जिसका शिकार क्रिस और वह दोनों थीं—टूटती शादियाँ। इस छोटे-से कस्बे की एक साधारण-सी अध्यापिका होकर भी वह कितना गहरे सोचती थी। उसका कहना था कि समस्या की शुरुआत उस बिन्दु से होती है जब बच्चे माँ-बाप से एक औपचारिक विदा लेकर स्कूल को चल देते हैं और स्कूल से लौटकर उन्हें घर में न माँ मिलती है न बाप। कितने बच्चे तो स्कूल में ही इन्तजार करते रहते हैं क्योंकि घर में कोई नहीं होता। अब इस तरह के वातावरण में पले बच्चे बड़े होकर अगर एक बहुत ही स्वार्थी दृष्टिकोण पालते हैं तो किसका दोष। क्रिस की माँ ने इस बात की पुष्टि की कि ऐसा पहले नहीं था। चीजों का बिगड़ना दूसरे विश्व-युद्ध के बाद से शुरू हुआ, जब तबाही के बाद हर औरत को काम पर जाने के लिए मजबूर होना पड़ा। परिवार का टूटना, औरत के काम पर जाने से अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। मैं कुछ फख्र के साथ भारत की विवाह-संस्था, भारत की गृहलक्ष्मी पर एक भाषण देता चला गया। वाकई हम इस बात पर अब भी नाज़ कर सकते हैं कि हमारे यहाँ विवाह के बन्धन इस आसानी से नहीं टूटते···जीवन को अन्त तक भरा-पूरा रखते हैं। अन्दर एक दबी-दबी सी चोर भावना भी थी कि जिस रफ्तार से हम भी अब सुख-साधनों को हासिल करने के लिए दौड़ रहे हैं···उसमें विवाह नाम की संस्था हमारे यहाँ भी कितने दिनों बच पायेगी···कम-से-कम शहरों में जल्दी ही यहाँ जैसा ही आलम दिखाई देगा।

छह बजे के करीब यहाँ के एक पुराने चर्च में पारम्परिक ढंग से की जाती सर्विस देखने चले। समय से बेंचों पर जा बैठे। बगल की बुढ़िया के मुँह से शराब की बदबू। कैरल्स का सामूहिक गान। बीच-बीच में बच्चों के कैरल्स—छोटे मासूम चेहरे हथेली को हथेली में फँसाकर प्रार्थना की मुद्रा में खड़े हुए---इन चेहरों पर संजीदगी कैसी अजीब लगती है! सारा-कुछ किसी आयोजित कार्यक्रम-जैसा ही था—एक लिखे हुए प्रोग्राम की रेल पर घिसटनेवाला। न वहाँ पूजा का भावावेश था और न ही परम्परा की अनौपचारिकता···जो हमारे यहाँ कीर्तनों में आम बात है। चर्च के कुछ पुराने सदस्यों में वे भी थे जो कार्डिफ़ से कार में आए थे। वापसी के लिए हम उनमें बँट गए। रास्ते-भर गपशप। हमें होटल तक छोड़कर गए, जैसे कि हम उनके ही मेहमान थे। कोई अंग्रेज इस तरह कार से छोड़ने आयेगा क्या?

मैं घूम-फिरकर जैसे एक छोटे-से हिन्दुस्तान में आ गया था। लन्दन का छोटा हिन्दुस्तान फूहड़ अर्थ में ही है···असली हिन्दुस्तान यहाँ है···वही नाक-नक्श, वही भावुकता, वही बड़बड़िया स्वभाव, वैसी ही मेहमानों के स्वागत-सत्कार के लिए आतुरता और पारम्परिक के लिए वही आदर और ललक। यह भी इत्तफाक नहीं है कि वेल्स का करीब-करीब हर व्यक्ति भारतीय को आदर से देखता है···जब कि अंग्रेज की नजर सिर्फ हिकारत-भरी होती है।

बृहत्तर भारत की त्रिधारा

कुबेरनाथ राय

एक नदी इरावदी*

कल्पना करें कि मैं एक जातिस्मर हूँ और मेरे भीतर युगान्तर की एक स्मृति जागती है। युगान्तर से मेरा तात्पर्य त्रेता-द्वापर से नहीं, महज़ हजार वर्ष पूर्व से है।

मैं तब महाजनक के मणिमाणिक से लदे पोतों में काम करता था। मेरा काम था पाल तानना, 'बॅवरई'-रस्सी को ठीक कोण पर स्थापित किए रखना, अँगूठे और अँगुली के बल पर तथा जरूरत हो तो लंगर डालने पर 'गोन' खींचना। महाजनक के ये पोत दक्षिण-पूर्व एशिया को जिसे उन दिनों 'सुवर्णभूमि' कहते थे और जिसकी सीमा में सारे मलयद्वीप, यवद्वीप, सुमात्रा आ जाते थे, इस पवित्र जम्बु-द्वीप से जोड़ते थे। ये सार्थवाही पोत इरावदी-मेनाम मिकाङ् के मुहानों से प्रवेश कर धार के साथ सुदूर अन्तर्भूमि में चले जाते थे और स्याम-कम्बोज-चम्पा के अन्तवर्ती जन-मानुष को जम्बुद्वीप के आर्यो से संयुक्त कर देते थे। ये पोत जहाँ-जहाँ जाते थे वहाँ-वहाँ भारतीय पण्य के साथ-साथ भारतीय हृदय और प्रज्ञा का भी वितरण करते चलते थे। ऐसे ही पोतों में से एक पर मैं भी था महाजनक के क्षुद्र सेवक के रूप में। जातिस्मर जो हूँ, इसीलिए आज इरावदी की जलयात्राएँ स्मरण आ रही हैं। अकाज स्मरण आ रही हैं। स्वान्त: सुखाय स्मरण आ रही हैं, क्योंकि आज मुझे इरावदी से क्या लेना-देना ? आज २०वीं शती का इतिहास उस मृत संदर्भ से अपने को किस लाभ के लिए जोड़ने जायेगा ? परन्तु लेना-देना और लाभ का खाता तो बनिया देखता है। साहित्य तो सब-कुछ स्वान्तःसुखाय करता है। अवश्य ही यदि साहित्य ईमानदार है तो इस स्वान्त:सुखाय में और—और लोगों को भी सुख मिलने लगता है। अत: आज दो हज़ार वर्ष बाद भी मेरा मन महाजनक की 'तिनडोंगी' पर सवार होकर चल रहा है विगत इतिहास का रंग-बिरंगा पाल ताने, और पीछे है एक नहीं

अनेक महाजनकों की माल-लदी विशाल 'मल्हन' (मल्लन)[१] नौकाएँ जो मानुष-तन के अलंकरणों के साथ-साथ आत्मा के अलंकरण भी बाँटती चलती थी। चाहे वे नौकाएँ और जलपोत 'ताम्रलिप्ति' से छूटे हों या 'अमरावती' से या गोदावरी-मुख 'गुद्दूर' से, या कावेरी के 'कांजीवरम्' से अथवा गुजरात के 'सुपारा' से। इन नौकाओं पर रत्न, अलंकार, कौशेय वस्त्र, सुगन्धित द्रव्य, शंख, हाथीदाँत के सामानों के साथ-साथ चलती थीं मूर्तियाँ और पोथियाँ, ब्राह्मण और श्रमण। जम्बुद्वीप के नाविक, पण्डित और धनुर्धर तीनों मिलकर समस्त दक्षिण-पूर्व एशिया को पवित्र ओंकार ध्वनि और अमिताभ की करुणा का वितरण करते चलते थे, हृदय-हृदय में एक नन्हे भारतवर्ष को रचते चलते थे। समस्त दक्षिण-पूर्व एशिया के हृदय में असंख्य नन्हे-नन्हे भारतवर्ष आज इतिहास के दबाव से औरों की दृष्टि में मृत जीवाश्म-जैसे लग सकते हैं। परन्तु हमारे लिए वे मृत जीवाश्म नहीं हो सकते क्योंकि राष्ट्र के रूप में आकृति-परिवर्तन के बावजूद हम अब भी जीवित हैं, अब भी अस्त नहीं हुए हैं, अत: हमारा कोई भी विग्रह कहीं भी हो, हमें उसे देखकर सुख मिलने लगता है। असल बात है अनुभूति और रसबोध की। राजनीति के बनिये, मेरी बात नामंजूर भी करें तो भी परवाह नहीं। मैं अपने सामूहिक 'स्व' की असंख्य छवियों को देखूंगा ही।

तो आज मुझे स्मरण आ रही है नदी इरावदी। कुछ नाम ऐसे होते हैं कि वे रूप से भी ज्यादा मोहक होते हैं और अनदेखे रूप का नाम तो मन में कभी-कभी एक महोत्सव-सा रच देता है। यद्यपि मैं जातिस्मर हूँ। कभी मैं इरावदी के श्यामल तट से परिचित था। तो यह नाम 'इरावदी' एक ऐसा ही नाम लगा मुझे। इरा, इरा, इरावती, रंग-बिरंगी पाल सजी नौकाएँ, 'झिझरी' खेलता हुआ मन। इरा अर्थात् सरस्वती, इरा अर्थात् जल, इरा अर्थात् वारुणी। किसी भी नदी के लिए यह नाम कितना सुन्दर और सार्थक है। भारतीय मन के लिए इरावती या इरावदी एक पुराना परिचित नाम है। एक इरावती है सप्तसिन्धु के अन्तर्गत जिसे आज 'रावी' कहते हैं, और दूसरी इरावती है 'प्रतर भारत' (विशाल भारत) में। मेरा तात्पर्य बर्मा की 'इरावदी' से है जो गंगा-रावी-सतलज की ही तरह हिमवन्त की ही एक कन्या है और बर्मा-भर आमूल-चूल बहती है। इसी में भारत की मणिपुर नदी का जल लेकर सिन्धुविन भी मिलती है। यह इरावदी बर्मा की गंगा है। यह बर्मा के सम्पूर्ण सांस्कृतिक इतिहास की प्रतीक है। बर्मी जाति नस्ल से चीनी किरात, अर्थात् मंगोलीय किरात नहीं 'भोट'-किरात हैं और भारतीय किरातों से सगोत्र हैं। यों बर्मा में मूलत: तीन नस्ल की जातियाँ हैं : बहुसंख्यक 'बर्मी' जो 'भोट' किरात हैं, 'मान' (मोड़) जो भारतीय निषादों और माल्यों के सगोत्रीय हैं तथा 'शान' (शाङ्) जो चीनी किरात हैं। अत: बर्मा के लोग भी नस्ल के हिसाब से भारतीय किरात-निषाद परम्परा

से जुड़े हुए हैं। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति अपनी छाप बिना राजनीतिक दमन के ही सरलता से इन पर क्या समस्त दक्षिण-पूर्व एशिया पर छोड़ती गई। मैंने जब 'गरुड़ पुराण' में एक ऊलजलूल प्रसंग पढ़ा कि कश्यप की एक स्त्री 'इरा' भी थी जिससे 'खश' घास तथा यक्ष-राक्षस किन्नेतर आदि जातियाँ पैदा हुई तो मुझे इस ऊलजलूल बात में भी एक संकेत मिला। मैंने मन-ही-मन कहा इरावती अर्थात् किरातवती। भारतीय इरावती भी तो किन्नर-किरात भूमि हिमालय में ही बहती है। अत: दोनों नदियों के नाम-साम्य का रहस्य समझ में आ गया।

यों आज मैं बर्मा की इस किरातवती नदी अर्थात् इरावदी का ही प्रसंग उठा रहा हूँ। भारत के ईशान कोण में, भोट देश (तिब्बत) के पूर्वी सीमान्त पर, ठेठ हिमालय नहीं तो हिमालय के उपखण्ड में इस नदी का जन्म होता। गम्भीर धूमाभ्र एकान्त है, वर्मा के सैंतीस आदिम अपदेवता 'मायानट' मौन समाधिस्थ बैठ गये हैं, पद्मासन की भारतीय मुद्रा में और शैलशिखरों के प्रेत बुदबुदाकर मंत्र-पाठ कर रहे हैं इस मायाविनी नदी के प्रसव का। नदी पहले दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ती है परन्तु स्वल्प ही। फिर यह कमोबेश दक्षिणमुखी ही बहती है और अन्त में मर्तबान की खाड़ी में जो हिन्द महासागर का ही एक भाग है, जाकर समुद्र में लीन हो जाती है। इस नदी के मुहाने से चलकर यदि प्रवाह के प्रतिकूल उत्तर की ओर बढ़ते जायें तो यह यात्रा बर्मा के इतिहास और भूगोल में 'झिझरी' खेलने-जैसी होगी; क्योंकि इरावदी बर्मा के इतिहास और भूगोल की सुषमा रचती है। पश्चिम में है अराकान योमा का पठार और पूर्व में है शान और पेगूयोमा की विस्तृत बन्धुर मालभूमि और बीच में है इरावदी की नदी सारे उपत्यका देश में। इसका दक्षिणी भाग है डेल्टा भूमि, उत्तरी भाग है पार्वत्य प्रान्त और मध्य भाग है बर्मा के इतिहास और भूगोल का हृदय, जहाँ देश की सात-सात राजधानियाँ बसीं और उजड़ीं। इसी में धान के लहराते खेत हैं, जगत्-प्रसिद्ध तैल-कूप हैं, वेणुवन हैं, कदली वन हैं, कोकापिन-शाल-सागोन के घने वन हैं और छोटी-छोटी 'चम्पन' तथा बड़ी मल्हन नौकाएँ हजार-हजार वर्षों से इसी देश की इस सुषमा-नदी के भीतर उत्तर से और उत्तर की ओर बढ़ती हुई ये 'मेमो' नामक उस थल तक चली जाती हैं जहाँ से चीन के यून्नान प्रदेश में जाने का प्रसिद्ध 'चीनांशुक मार्ग' प्रारम्भ होता है। अजातशत्रु द्वारा उत्तर भारत के गणों की पराजय के बाद अथवा मौर्यों के अवसान के बाद, अथवा इतिहास के ऐसे ही अन्य झड़-तूफानों के बाद कौशेय, मागध और मैथिल राजकुल और श्रेणिकुल इसी चीनांशुक मार्ग से चीन के यून्नान प्रदेश में घुसते रहे और वहाँ पर भारतीय उपनिवेशों की रचना करते रहे। 'शान' जाति के चीनी मंगोल बर्मा और बाद में असम (भारत) में प्रवेश करते थे। बर्मी जाति जिसमें इतिहास-प्रसिद्ध शासक जाति 'प्यू' भी सम्मिलित है, आज बहुसंख्यक है। उसके बाद हैं 'शान' नस्ल के चीनी किरातों

तथा 'मान' (मोङ्) नस्ल के भारतीय किरातों के वंशधर। 'मान' स्याम तथा कम्बोज में भी हैं और स्मरण रखने की बात है कि इन्हें बर्मा में 'ताइ-लङ्' (तैलङ्ग) भी कहते हैं। ये ही कम्बोज में 'ख्मेर' कहे जाते हैं और नस्ल के हिसाब से 'मालय' हैं। किसी-न-किसी रूप में इनका भारत से गर्भनाल-गत सम्बन्ध है। अवश्य ही आदिम अतीत का सम्बन्ध।

इरावदी की डेल्टा भूमि प्राचीन 'प्यू' गति का 'श्रीक्षेत्र' है। इसी डेल्टा भूमि के अन्दर एक उपनदी के तट पर रंगून नगर बसा है। इसी का प्राचीन नाम था 'श्रीक्षेत्र' और यह नाम संभवत: कलिंग देश से आये 'मालय' (मोङ् ख्मेर) भारतीयों ने दिया होगा। यहाँ हिन्दू और बौद्ध दोनों संस्कृतियों के अवशेष मिलते हैं। डेल्टा भूमि धान्य क्षेत्र है। सुन्दर मटियार भूमि है। सारी तटरेखा समुद्री ज्वार-वनानी (tidal forest) से भरी है जिसमें सागौन, चीड़ और पिंकाडो के घने जंगल हैं। ये पेगूयोगा और अराकान योमा के चरण-प्रान्त तक फैले हुए हैं। कुछ दरख्तों की ऊँचाई तो गगनचुम्बी है। सौ-सौ फीट ऊँचे सागौन के बृहत् पर्णी वन जिनमें साँप और हाथी घूमते हैं, अतिकाय मधुचक्र लटके हैं, खस की सुगंधित घासें उगी हैं। सूर्यतप्त दारुण दुपहरी में हवा गंधमत्त हो उठती है और फण फैलाए श्वेत शंखचूड़ सर्प प्रमत्त घूमते तथा सुगन्धित वायु का पान करते हैं। इस सघन एकान्त में 'प्यू' जाति के लोगों ने जिस सुदर्शनापुरी की स्थापना की थी, उसे डेल्टा प्रदेश के उत्तरी भाग के 'पगानों' ने ८३२ ई० में नेस्तनाबूद कर दिया। परन्तु इस पुरी के अवशेषों में ऐसे स्वर्णपत्र-ताम्रपत्र प्राप्त हैं जिन पर दक्षिण भारत की 'कादम्ब' लिपि में सूर्यविक्रम, हरिविक्रम और जयवर्मन राजाओं के नाम हैं। इस तरह से यह श्रीक्षेत्र भारतीय संस्कृति की उपछाया में आ गया था। डॉ० नीहाररंजन राय के अनुसार पहले शैवधर्म आया था। उसके बाद आया ५वीं शती के बाद बौद्ध धर्म। बौद्ध धर्म का अनुप्रदेश हुआ कांजीवरम् से हीनयान के रूप में। सम्भवत: धर्मगुरु धर्मपाल के माध्यम से। परन्तु बर्मा के अन्य प्रदेशों में बौद्ध धर्म इससे भी पूर्व पहुँच गया था। बर्मी अनुश्रुति के अनुसार वहाँ तापस और मल्लिक दो मालय वणिकों द्वारा बुद्ध की अस्थियों का आगमन हुआ था बर्मा में; और सम्राट अशोक ने भी दो बिहारी धर्म-दूतों का प्रेषण किया था। शोणगुप्त और उत्तर। इनमें शायद शोणगुप्त भोजपुरी था, शोण-तट का निवासी था। अराकान में महामुनिका मन्दिर बौद्ध धर्म की प्राचीनता का साक्षी है। परन्तु ये सब छिटपुट प्रयत्न थे। बौद्ध धर्म की जड़ जमी और संगठित ढंग से प्रचार हुआ दक्षिणी डेल्टा भूमि की 'प्यू' शक्ति के माध्यम से जिसकी 'सुदर्शनापुरी' का वर्णन चीनी यात्रियों के विवरण में विस्तारपूर्वक मिलता है। उसमें बुद्ध की पूजा का उल्लेख प्रतीकों की पूजा के रूप में है। संगमरमर की १०० हाथ ऊँची एक श्वेतहस्ती-प्रतिमा का ज़िक्र मिलता

है। यह श्वेतहस्ती ही इस क्षेत्र का मुख्य देवता था। श्वेतहस्ती बुद्ध के गर्भाधान का प्रतीक है। मानवाकार प्रतिमाओं से पूर्व श्वेत हाथी, भागते अश्व-सिंह, भिक्षापात्र, कमल आदि प्रतीकों के रूप में ही बुद्ध की पूजा होती थी। चीनी यात्री ने लिखा है कि राजा-रंक सभी इस श्वेतहस्ती-प्रतिमा के सम्मुख शीश झुकाते थे, और पापों को स्वीकार करके प्रायश्चित्त के अश्रुपात करते थे। परन्तु ८३२ ई० में महायान-दीक्षित मध्यमवर्मा के शासकों ने इस सुदर्शनापुरी को समग्रतः नष्ट कर दिया। धर्म के आग्रह पर भयंकर नर-बलि हुई। श्वेतहस्ती की विशाल प्रतिमा अपनी गज-निमीलिका में लीन यह सब-कुछ देखती रही और एक दिन स्वयं काल के अन्तराल में विलीन हो गई।

इरावदी की डेल्टा भूमि में ही थीं मान (मोङ्) लोगों की पेगू और थाटोन नामक बस्तियाँ जिनके भारतीय नाम क्रमशः हंसावती और सुधर्मावती हैं। ये अत्यन्त विकसित सभ्यताएँ रही होंगी। इनके शिल्पावशेष इस बात के साक्षी हैं। परन्तु १०वीं शती में मध्य बर्मा के पगान नरेशों ने इस मान संस्कृति को चूर्णविचूर्ण कर डाला। परन्तु मान वंशीय बौद्ध गुरु शीलअर्हन के प्रभाव में आकर आक्रामक राजा अणव्रत या अनिरुद्ध उसी प्रकार परिवर्तित हो गया जैसे कलिंग-विजय के बाद सम्राट अशोक। मध्य बर्मा के पगान महायानी थे। परन्तु पराजित 'मानख्मेर' संस्कृति के सम्पर्क में आने पर ये हीनयानी हो गये। मध्य वर्मा ने जो बर्मी संस्कृति का हृदय रचता है, इन्हीं पराजित 'मान' गणों से वर्णमाला, लिपि, शिल्प, पगोड़ा-शिल्प तथा धर्म को प्राप्त किया। इस प्रकार मान हार तो गये पर उनकी संस्कृति जीत गई। आज सारा बर्मा हीनयानी है। बर्मा में इन 'मान या मोङ्' लोगों को ताइ-लङ् या तैलंग भी कहा जाता था। यह नाम बड़ा सांकेतिक है। सम्भवतः नस्ल की दृष्टि से मान आंध्र क्षेत्र के तैलंगों से जुड़े हैं। कांजीवरम् या अमरावती से ये ही बौद्ध धर्म ले गये थे। डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार की धारणा है कि सारे दक्षिण और उत्तर भारत में एक जाति-विशेष रहती थी जिसके नाम में 'मल्ल' या 'माल' ध्वनि धातु का प्रयोग होता था। तैलङ्ग भी इसी जाति की शाखा में आते हैं और सम्भवतः यह 'मानख्मेर' नस्ल के निषादों का ही एक अपर कुल या गोष्ठी है।

१०वीं शती के मध्य बर्मी आतंक की, जिसकी चर्चा ऊपर हुई है, विडम्बना यह है कि यह सब-कुछ हुआ आक्रामक के शिल्प-प्रेम और सद्धर्म-प्रेम के नाम पर। मध्य बर्मा ही बर्मा के इतिहास और भूगोल का हृदय है। इसी भाग में इस देश की सात-सात राजधानियाँ बसीं और उजड़ीं। इरावदी की यह उपत्यका बर्मा की स्वच्छ कृषि-भूमि है और तेल के बड़े-बड़े कूप हैं। धान के पसार में लोकगीतों की बाँसुरी और सम्यक् सम्बुद्ध के प्रति भक्ति-भाव भरी घण्टा-ध्वनि दोनों के सामांत-राचर प्रति संध्या को आज भी बजते हैं। प्रति संध्या को आज भी बुद्ध के चरणों

का पद्ममधु बूंद-बूंद झरने लगता है। बौद्ध हीनयान की इस महिमा के पीछे विडम्बना-पूर्ण इतिहास है। इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म का एक रूप, सम्भवतः शुद्ध बौद्ध धर्म नहीं, बल्कि आजीवक सम्प्रदाय के नीकंचुकधारी नव्यबौद्धों का पंथ, यहाँ पर ५वीं शती से ही प्रचलित था। संभवतः महायान और लोकायत बर्मी धर्म के सम्मिश्रण से इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई थी जिसे 'आरि'-सम्प्रदाय कहा जाता था। १०वीं शती में नृपति अणव्रत ने ग्यू, पेगू और थाटोन नगरों की शिल्पगत और सांस्कृतिक कीर्ति का संवाद सुना और थाटोन तथा पेगू के मानवंशीय शासकों से शिल्पियों और दार्शनिकों को भेजने का अनुरोध 'आदेश' की भाषा में किया। मानों के इंकार करने पर अणव्रत की सेनाएं उसके पागान नगर के शरभद्वार से गज घटा-सी उमड़ती हुई निकलीं और जैसा कि पहले कहा गया है प्यू (सुदर्शना), पेगू (हंसावती) और थाटोन (सुधर्मावती) के सांस्कृतिक कमलवन को रौंदकर तहस-नहस कर डाला। थाटोन के भीतर ही बुद्ध-तनु की अमूल्य अस्थियाँ सुरक्षित थीं, जिन्हें तापस और मल्लिक ई० पू० शतियों में जम्बुद्वीप से लाये थे। उन अस्थियों के साथ बुद्ध के पवित्र केश-गुच्छ को अपहृत करके वह राजा अपने नगर पागान ले गया और उनको स्थापित करने के लिए देवशिल्पियों द्वारा विरचित मन्दिरों-जैसे पगोडों और स्तूपों की रचना करवाई। आज भी इरावदी के तट पर बसी इस पागान नगरी में पाँच हजार बौद्ध-स्तूप और मन्दिर हैं। इनमें बुद्ध की अस्थियों पर स्थापित श्वेत 'जिगान' नामक महास्तूप भी है जिसके प्रस्तर गात्र पर बर्मा के लोकायत देवताओं, अपदेवताओं तथा मायानटों (नटआ) की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। कहते हैं कि अणव्रत (या अनिरुद्ध) जीवन के अन्तिम काल में तथागत का परम भक्त बन गया था और वृद्धावस्था में उसका एक ही कार्य था मृत्पट्टिकाओं पर तथागत की भूमिस्पर्श-मुद्रा को उत्कीर्ण करना। अणव्रत का गुरु था भिक्षु शीलअर्हन जिसे वह अन्य पंडितों के साथ थाटोन से अपहृत करके ही लाया था।

अणव्रत का पुत्र था 'क्यान जित्थ' (ज्ञान दृष्टि) जो उसी शीलअर्हन का शिष्य था। इसका उल्लेख मिलता है बौद्ध गया में प्राप्त एक शिलालेख में। उसने बौद्ध-मन्दिर के जीर्णोद्धार के लिए बहुत-सा धन दिया था और नालन्दा में एक बिहार का भी निर्माण करवाया था। उसके अभिषेक के अवसर पर वृद्ध शीलअर्हन ने इरावदी-सिन्धुविन-सीताङ्ग और शालविन के जल के साथ-साथ जम्बुद्वीप की सप्त नदियों का जल भी मँगाया था; और एकादश जल से उस राजा का अभिषेक करके उसे बर्मा के गजासन पर आसीन किया गया। उस राजा की विपुल कीर्ति का आधार है आनन्द मन्दिर। कुमारस्वामी और रेनॉल्ड के अनुसार यह मन्दिर नहीं, "संगमरमर में प्रस्तरीभूत बौद्धस्तोत्रों का संगीत है।" आज भी इसकी ताम्रचूड़ा संध्या-राग में स्वर्ण वर्ण की हो उठती है और सारा संगमरमर-गात्र अरुणाभ हो

उठता है। भीतर तब बुद्ध की सांध्य आरती के साथ बर्मी बौद्ध स्तोत्रों का पाठ होने लगता है तो लगता है कि इस मन्दिर के शिखरों पर अदृश्य देवगण उतर आये हैं और बुद्धवन्दना को कान लगाकर सुन रहे हैं। इस मन्दिर में दीवारों पर उत्कीर्ण 'पट' हैं, क़रीब डेढ़ हज़ार और कल्प-वल्लरी तथा मंगल प्रतीकों से उत्टंकित अस्सी विशाल 'ताखे' हैं। समस्त दक्षिण-पूर्व एशिया में इस मन्दिर की ख्याति है कम्बोडिया के श्रीवाट और अंगकोर तथा जावा के बोरोबुदूर एवं प्रम्बानम के ही बराबर। जनश्रुति है कि इस मन्दिर का निर्माण मानवीय हाथों से नहीं बर्मा के सैंतीस अपदेवताओं 'मायानटों' द्वारा हुआ है सिर्फ एक रात के अन्दर। सैंतीस मायानटों की पग पर सिद्ध सुरों की झंकार उठी और चन्द्र-ज्योत्स्ना में धीरे-धीरे वह झंकार प्रस्तरीभूत होती रही रात-भर और नीलारुण फूटने के पूर्व एक संगमरमर का मन्दिर तैयार था।

दशवीं शती के बाद सुवर्ण भूमि बर्मा में थेरवाद और हीनयान का प्रसार होता गया। १२८५ ई० में कुबलाई खाँ के आक्रमण ने पगान की कीर्ति-गरिमा को उसी तरह ध्वंस कर डाला जैसे अणव्रत ने ८३२ में पेगू और थाटोन का विनाश कर डाला था। तो भी पगान की जड़ें काफी मजबूत थीं। इसकी कीर्ति के चाक्षुष प्रमाण अब भी मौजूद हैं। १३वीं शती के बाद बर्मा में अनेक राज-परिवर्तन हुए। परन्तु बुद्ध का थेरवादी अनुशासन चक्र अपरिवर्तित रहा। चीनी तिब्बती बौद्ध महायान का पालन करते थे परन्तु पड़ोसी बर्मा, सिंहल और कांजीवरम् से प्राप्त थेरवाद (हीनयान) को निष्ठापूर्वक अब भी अपनाये हुए हैं। सम्राट कनिष्क के द्वारा श्रीनगर में आयोजित 'बौद्ध संगीति' के बाद ऐसा आयोजन माण्डले में नृपति मिण्डान ने १८६८ ई० में किया था, जो पाँचवीं संगीति थी। छठवीं का आयोजन हुआ था लोकतन्त्री बर्मी सरकार द्वारा १९५४ में रंगून में।*

हम मध्य बर्मा से उत्तर की ओर बढ़ें तो हमें इतिहास से ज्यादा भूगोल ही आकर्षित करेगा। जहाँ इतिहास पिछड़ जाता है, वहाँ भूगोल को अपना स्तब्ध आदिम विस्तार करने का अवसर मिल जाता है। वस्तुतः इतिहास तो भूगोल के अन्दर मनुष्य के हस्तक्षेप का ही दूसरा नाम है। जहाँ यह हस्तक्षेप कमजोर है वहाँ भूगोल की ध्यान-गम्भीर भंगिमा देखने लायक होती है। इतिहास की अपेक्षा भूगोल ज्यादा मायावी होता है। इतिहास की प्रस्तरीभूत अप्सराएँ और गन्धर्व हमारी बुद्धि और कल्पना को ही जाग्रत करते हैं, परन्तु भूगोल बुद्धि और कल्पना के साथ-साथ इन्द्रियों को भी सहलाता चलता है, इसका संवेदन ऐंद्रिक होता है। इसीलिए भूगोल के बीहड़ वनों में प्रवेश करना दुस्साहस है। तो भी मेरी लोभी-लालची कल्पना अपनी भावना को धँसा ही देती है इरावदी की उत्तरी जलधारा में जिसके दोनों ओर पहले मिलते हैं पर्णपाती वन, फिर हिमालय वंशीय देवदार के रोडेन

सड्रोण्डेन और ओक के सदाबहार श्यामल वन। तत्पश्चात् हमारी भाव-नौका आगे बढ़ती है और हम इन सदाहरित वनों को पार कर तुषार-मण्डित हिमानी इर्वा के प्रदेश में चलने लगते हैं। मारे हिम और शीतलता के ऊँचे कद की वनस्पति इन प्रदेशों में उग नहीं पाती है। इसी क्षेत्र में 'मोमो' नामक स्थान पर बड़ी-बड़ी जल-नौकाएँ रुक जाती हैं, इरावदी में बहते हुए हिमखण्ड उनके पथ का रोध कर देते हैं। यह 'का-चीन' तथा 'शान' जातियों का प्रदेश है और अब भी इतिहास आदिम अवस्था में यहाँ आँख मूँदकर पड़ा है। यहाँ तक कि का-चीन जाति में दासप्रथा तक चालू है। मोमो के पास ही मोगांग होकर चीन जाने का पुराना रास्ता 'चीनांशुकमार्ग' जाता है जिस पथ पर अजातशत्रु और वैशाली के दिनों से ही यात्रीगण भारत से चीन में प्रवेश करते थे। यह रास्ता नगाभूमि की सीमाओं से होकर जाता था। इसी के पास बर्मा का सीमान्त क्षेत्र 'मयिकिना' (myitkyina) जनपद है। जहाँ माणिक, नीलम और पुखराज की जगत्-प्रसिद्ध खानें हैं। नीलम और हरित बहुमूल्य प्रस्तर-खण्ड तथा सबसे दामी माणिक इसी क्षेत्र में पैदा होते हैं। इसी माणिक की खोज में विदेशी यात्री भूगोल के सारे आतंक और मृत्यु के मायावी जाल के बावजूद इरावदी की सुदूर उत्तर धारा से हजार-हजार वर्षों की मैत्री बनाये चल रहे हैं। हम तो भाव की नौका पर धारा की प्रतिकूल दिशा में इरावदी की डेल्टा-भूमि से चले थे और धान, कपास, तिल, मूंगफली के खेतों, सघन वेणु वनों, कदली वनों, विशाल मधु के छत्तों को लटकाये सौ-सौ हाथ ऊँचे पर्णपाती वनों, ओक, सागौन गोडेन ड्रोण्डेन, गंहार, पिकांडो, बगरू, भोजपत्र आदि के मायामय श्यामल हरित वनों आदि का भाव-स्पर्श प्राप्त करते हुए, मणि-माणिक गजयुक्त और गजदन्तों के क्षेत्र में प्रवेश कर गये हैं, बिना किसी लोभ के, बिना किसी तरह लार टपकाये, अतः हमें भय नहीं। हमें मणि-माणिक मरकत-खण्ड और गजमुक्ता नहीं चाहिए। हम तो बुद्ध-हृदय की इस पवित्र भूमि में हजार-हजार वर्ष भूली स्मृतियों की खोज में आये हैं। अपनी व्यक्तिगत स्मृतियों की बात मैं नहीं करता हूँ। मैं अपने अन्दर भारतीय इतिहास का आवेश धारण करके बोल रहा हूँ। अतः मेरा तात्पर्य जातीय स्मृतियों से है जिनके बेशकीमत महार्घ खण्ड इरावदी की भूमि में भी बिखरे पड़े हैं। क्योंकि मीकाङ्-मेनाम-इरावदी ये तीनों दक्षिण-पूर्व एशिया में बिखरी भारतीय अनुस्मृतियों की त्रिधारा हैं। इस बात का समस्त विश्व के लिए, दक्षिण-पूर्व एशिया के लिए कोई महत्त्व नहीं रहा। आज इतिहास इतनी दूर आ चुका है कि यह निरर्थक कहानी सुनने का समय न तो विश्व के पास है और न इस कथा की भूमि दक्षिण-पूर्व एशिया के पास है। परन्तु यह कहानी एक अर्थ और बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अर्थ रखती है, हमारे लिए, भारतवर्ष के लिए। यह कहानी हमें अपनी अस्मिता या 'आइडेण्टिटी' को पहचानने के लिए

बहुत आवश्यक है। अतः जो-कुछ मैं कह गया हूँ, वह बर्मा के इतिहास का सार्थक अंग है या निरर्थक अंग इस पर बहस हो सकती है। परन्तु भारतवर्ष के इतिहास का यह सब सार्थक अंग अवश्य है, ऐसा मेरा विश्वास है।

मैं तो चला था जातिस्मर की भूमिका लेकर, पूर्व जन्मान्तर की एक कल्पना के साथ, जब मैं महाजनक की नौका पर गोन खींचने का कार्य करता था। आज से दो हजार वर्ष से ज्यादा पहले की बात है। मैं कल्पना करता हूँ एक कथा की। महाजनक की नौका चल रही है ताम्रलिप्ति से या अमरावती से, या गुद्दर से, या कहीं से भी। चन्दन काष्ठ, मयूर, वस्त्र, अलंकार, शंखवलय और तरह-तरह के रजतपात्र, सुवर्णपात्र लादकर। एक सौ छप्पन पाल ताने महाजनक की नौका चली थी जिसके सीमन्त पर भगवती-प्रतीक सिन्दूर से अंकित था। इरावदी के मुहाने से उत्तर की सघन भूमि में प्रवेश करके महाजनक ने इन वस्तुओं के विनिमय में कच्चा सोना, हाथी दाँत, सिन्दूर, प्रवाल और मरकत-माणिक के अनगढ़ खण्डों से नौका की बोझाई की और अब वे पुनः इरावदी के मुहाने पर बर्मा के सैंतीस अदृश्य मायानटों को बलि अर्जित करके जम्बुद्वीप लौट रहे हैं। नौकाएँ समुद्र की उत्ताल तरंगों से लड़ती हुई चल रही हैं। अराकान योमा के तटीय समुद्र की समानान्तरता को छोड़कर हम सीधे-सीधे ठेठ समुद्र में प्रवेश कर चुके हैं। जहाँ से दिगन्त-रेखा भी दृश्यमान नहीं रह जाती और समुद्र तथा आकाश परस्पर घुलकर एकाकार हो जाते हैं। एकान्त जल-राज्य। ऐसे में अन्य महाभूत अपनी सार्थकता खो बैठते हैं। सूर्य, मरुत और आकाश रहते हुए भी लगते हैं कि नहीं रहे। जल छोड़कर कुछ बचा ही नहीं। ऐसे में अचानक वरुण देवता क्रुद्ध हो उठते हैं। जल का एकान्त भयावह हो उठता है। सारा दृश्य बदल जाता है। हमारे कलेजे धड़कने लगते हैं। पोताध्यक्ष, महानाविक, कर्णधार, दिशाधार आदि भी सक्रिय हो उठते हैं। "उस रस्सी को खींचो, उस पाल को गिराओ, इस कोण को ठीक करो। साधु, साधु ! बिलकुल ठीक ! नहीं, ऐसे नहीं बेटे ! मेरे हृदय के टुकड़े जरा बल लगाओ ! वाह रे भाई, वाह ! भाई जो न खींचे वह···।" तरह-तरह के श्लील-अश्लील हाहाकारों से वायुमण्डल भर जाता है पर सब बेकार ! तूफान और कुछ लहरों से मनुष्य का मल्लयुद्ध कितना जारी रहेगा ! वरुण की उत्ताल तरंग-सेना पोत-पर-पोत उठती और नौकाओं के मस्तक पर हस्तप्रहार करती है ! यह दृश्य देखकर सबका दिल बैठ गया है। सब मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए भी जीवन की लड़ाई लड़ रहे हैं। सब जान चुके हैं कि अवसान निकट है। अचानक चारों दिशाओं से बड़ी-बड़ी लहरें आती हैं। नौका का सर्वग्रास कर जाती हैं। मैं भय से आँखें मूँद लेता हूँ। मैं चेतना-शून्य हो जाता हूँ। सम्भवतः हम जलसमाधि ले रहे हैं।

कुछ काल बाद लगता है कि चेतना लौट रही है। लगता है कि क्रुद्ध लहरों

का शोर थम गया है। मैं धीरे-धीरे आँखें खोलता हूँ। हमारी नौका, अगल-बगल की सारी नौकाएँ शान्त भाव से चल रही हैं। लहरों की घुड़सवारी पता नहीं किधर को निकल गई। मैंने देखा कि माथे पर तिरती हुई लाल-हरित समुद्री पुष्पों की राशि है और हस्तक्षेप का अनुभव होता है! क्रुद्ध लहरें किसी सम्मोहन मंत्र के प्रभाव में आकर अपनी गर्जना को छोड़कर सीधी-सरल गायों की तरह रँभा रही है। हम सब लोग समवेत कण्ठों से चिल्ला पड़ते हैं, "वरुण देवता की जय! भगवती मणि-मेखला की जय!" यह मणिमेखला देवी ही जम्बुद्वीप की नौकाओं की रक्षादेवी है। वही इन जलयानों के सीमन्त पर अदृश्य रूप से सवार होकर चलती है। और उसी के अंगुली-संकेत के प्रति महाक्रोधी पवन और समुद्र के भयंकर अपदेवतागण नत-मस्तक हो जाते हैं। भगवती मणिमेखला ने एक बार नहीं अनेक बार महाजनक की नौकाओं को क्रुद्ध जलराशि से उबार दिया है! हम नाविकों के बीच एक प्रवाद प्रचलित था, पता नहीं कितना सत्य है इसमें, कि यह महाजनक एक दिन था बोधि-सत्व और किसी जन्म में जब यह शाक्यकुमार के रूप में अवतरित हुआ था तो यह भगवती मणिमेखला ही शाक्य राजकन्या उत्पलवर्णा का रूप धारण कर उनकी प्रधान शिष्या बनी थी। महाजनक बोधिसत्व था या नही, यह तो नहीं कहा जा सकता। पर बाद में हम लोगों को ज्ञात हुआ कि यह महाजनक कोई श्रेष्ठि नहीं, बल्कि भारत के चम्पा देश का राजकुमार है!

*बृहत्तर भारत की त्रिधारा—लेखक की दृष्टि में बृहत्तर भारत की 'सप्तसिन्धु' हैं—"वंक्षु, (OXUS), सिन्धु, गंगा, कावेरी, इरावदी, मेनाम और मीकाङ्"। इनमें अन्तिम तीन का सम्बन्ध दक्षिण-पूर्व एशिया से है। इन्हीं तीन पर सांस्कृतिक दृष्टि से ये ललित निबन्ध प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

—सम्पादक

१. 'मल्हन'—आज भी भोजपुरी में बड़ी मालवाही नाव को 'मल्हना' कहते है। (देखिए 'निषाद-बाँसुरी' का निबंध 'पाहन नौका')। 'निषाद बाँसुरी' लिखते समय मेरे ध्यान में यह बात नही आई थी कि 'मल्हन', 'मल्लन' मूलतः 'मालय' और 'मल्ल' शब्दों से जुड़ा है। सम्भवतः यह एक ही नस्ल थी जो पूरे दक्षिण-पूर्व एशिया और भारत में फैली थी। आर्यों के आदिकाल के बाद और बुद्ध के पूर्व विस्तृत जानकारी के लिए देखिए डा० रमेशचन्द्र मजूमदार की 'सुवर्णभूमि'।

२. 'बौद्ध संगीति'—बौद्ध संगीति का अर्थ है बौद्ध विश्व-सम्मेलन जो धर्म के सही स्वरूप पर विचार करने के लिए बुलाया जाता है। पहली संगीति हुई थी बुद्ध की मृत्यु के ठीक बाद राजगृह में, द्वितीय वैशाली में, तृतीय अशोक के समय पाटलीपुत्र में और चौथी श्रीनगर में।

३. (क) 'झिझरी'—(भोजपुरी शब्द) नौकाविहार।

(ख) निबन्ध के प्रारम्भ और अन्त में 'महाजनक जातक' की कथा का संदर्भ है जो बर्मा में अति लोकप्रचलित जातक-कथा है। महाजनक बोधिसत्व के ही एक अवतार थे।

२

जल-माता मेनाम

पौ फटी। गुदारा लगा। नाविकों की हाँक-डाक शुरू हो गई। नागरिकों का मेला उतर आया। ब्राह्मणों के कण्ठ से स्वस्तिवाचन के श्लोक। कन्याओं के हाथों से निक्षिप्त फूल और अक्षत। उत्तर भारत के प्राचीन बन्दरगाह ताम्रलिप्ति का एक दृश्य। कांचनमाला के देश की कथा। लोककथाओं में वर्णित चन्द्र-सूर्य-अंकित नौकाएँ तथा भारवाही 'मल्हना' नावों की पाँतों से सुशोभित विस्तृत नदी-मुख का पाट। नदी, समुद्र से मिलते समय 'रूपं समुद्रोपम' हो उठती है, रूप में, विस्तार में और स्वभाव में भी। तरह-तरह के संवाद चल रहे हैं, "वणिक-पुत्र ! वणिक-पुत्र ! देवी-चैत्य को शीश नवाया था ? जोड़ा मणिक हंसों की बलि दी थी ? वणिक-पुत्र, वणिक-पुत्र, क्या महेश्वर को पुष्पांजलि दी थी, भोग-प्रसाद को मुख में डाला था ? वणिक-पुत्र, वणिक-पुत्र, क्या बहू का मुख देखकर चले थे ? जाओ, जाओ जल्दी बहू का मुख देख आओ, बहू से विदाई माँग आओ, नहीं तो वरुण-लक्ष्मी क्रुद्ध होंगी ! नहीं तो अतल समुद्र की देवियाँ पवन को धिक्कारेंगी और मध्य समुद्र में हमारी नौकाएँ अचल रह जाएँगी।"

अथवा, उससे भी प्राचीनतर एक दृश्य :

चन्दन के पिटकों में भरी हुई तालचक्र की पोथियाँ। कण्ठ में, वाणी में, मन में और मुखाकृति में सर्वत्र शील का शतदल प्रस्फुटित है और दृश्य में वह शत-शत गंधों-शब्दों और रूपों की आकृति ले रहा है। त्रिरत्न का पण्य चल रहा है, देशान्तर को शील-गंध का वितरण करने के लिए। "भन्ते, बुद्ध-दन्त सुरक्षित है न ? भन्ते, बोधिद्रुम की शाखा का ध्यान रखना। भन्ते, बुद्ध प्रतिमाएँ सँभालकर रखी जायें, पवित्र मंजूषाएँ ऊपर ही रहें, देखना किसी के पाँव उनको न छू जायें !

अथवा उससे भी पूर्व का एक कोलाहल, आदिमयुग का कोलाहल ! बलिष्ठ गठनवाले तेजस्वी नाविक ! छोटी-छोटी 'चम्पन' नौकाओं का परस्पर गुंथा हुआ

बेड़ा ! नौका के सीमन्त को सिन्दूर से टोकती हुई वल्कलधारिणी कन्याएँ और जल में जोड़े हंसों की बलि की ताज़ी रूपधार गिराते हुए कौड़ियों की माला पहने बूढ़े पुरोहित ! रह-रहकर कण्ठों से उठती तरंगायमान ध्वनि "भगवती समुद्र-कन्या की जय ! मणिमेखले देवी की जय !"

यह सारा दृश्य, शताब्दी-व्यापी कोलाहल किसके लिए है ? यह सारा कोलाहल है सुवर्णभूमि की ओर यात्रा के लिए। सुवर्णभूमि का स्वप्न मनुष्य का अति पुराना स्वप्न रहा है। मनुष्य की कल्पना में इतना अधिक सोना है, सोने का इतना अक्षय भण्डार है कि उस सोने से चाहें तो त्रिभुवन को मढ़ दें तो भी वह सोना निःशेष नहीं हो सकता। वैदिककाल से ही सुना जाता रहा है कि यह सृष्टि हिरण्यमय पात्र से ढकी है। अर्थात् माया का सबसे प्रलुब्धक चेहरा है हिरण्यमय। इसी से मनुष्य अपनी कल्पना में निहित सोने के अक्षय भण्डार से संतुष्ट नहीं रह पाता और बाहर के माया-जगत् में भी उसे विकल खोजता रहता है। उसके मानस-लोक में एक सुवर्णभूमि है, जहाँ उसकी सारी रूप-रस-गंध-स्पर्श की इच्छाओं का हिरण्यमय रूपान्तर घटित होता रहता है। अतः वह सुवर्णभूमि वस्तुतः एक कल्पलोक या मधुमति भूमि है, जिसमें पहुँचकर हमारा मन कवि बनकर विचरण करने लगता है, उसकी भाषा और अनुभूति शैली बदल जाती है। परन्तु यहाँ पर हम जिस कोलाहल को सुन रहे हैं वह इस मानस-लोक की सुवर्णभूमि से सम्बन्धित नहीं है जिसे वैदिक ऋषियों ने "हिरण्यमय लोक", "श्रीभूमि", "दिव्य भूमि" आदि की संज्ञा दी है। हम जिस सुवर्णभूमि की चर्चा कर रहे हैं वह मानसी नहीं, बल्कि गन्धवती मृत्तिका का ही विस्तार है। यह सुवर्णभूमि इरावदी-मेनाम-मीकाङ् की नदी-उपत्यका का सम्मिलित नाम है। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों (पाली का निद्देस) में इस भूमि को "सुवर्णभूमि" तथा पूर्वी द्वीप-समूह (हिन्द चीन-मलाया-समेत) को "सुवर्णद्वीप" कहा गया है। परन्तु मेनाम की घाटी में स्थानवाचक नामों में अधिकतर स्वर्ण का पर्यायवाची जुड़ा है और विद्वानों की राय है कि यह संज्ञा विशेष रूप से मेनाम-उपत्यका के लिए ही चलती थी।

पूरब के प्रति विश्व ने सदैव से एक रूमानी तथा लोलुप आकर्षण का अनुभव किया है। फलतः पूर्व के प्रति एक ओर दार्शनिकों और कवियों ने स्तोत्र-पाठ किया है तो दूसरी ओर दन्तुरमुख लोभ ने, अंधकार में गुप्ती खोंपनेवाले हाथों ने पूर्व की ओर सदैव ही आक्रमण-अभियान चलाया है। मनुष्य की रूमानी दृष्टि ने सदैव सुझाया है कि पूर्व में अंगना-राज, कदली-वन है, नृत्य-संगीत का लोक है और साथ ही अपार सोना है। सूरज रोज़ ही तो कई मन सोना पिघलाकर पूर्व समुद्र में निक्षिप्त कर देता है। पूरब में अपार सोना है। झरते धान में सोना है। चम्पकवर्णी नारी की देह में सोना है। पूरब की छाया शीतल है और 'सोनल' है। पूरब की

सुषमा 'सोनवती' है। पश्चिम की प्रकृति में कभी निर्मल प्रभा भास्वर हीरक झलक जाता है, तो कभी काला कोयला ! स्वर्णवती धरित्री तो पूरब की प्रकृति से ही मेल खाती है। इस पूर्वग्रह का कारण रहा, इन तीन नदियों की घाटियों से प्राप्त बहु-मूल्य पण्य वस्तुएँ, कच्चा सोना और अनगढ़ माणिक-मरकत एवं इनके समुद्रों से प्राप्त मोती और प्रवाल। इस शब्द का हिन्दी रूप 'मूँगा' बड़ा संकेतमय है। 'मूँगा' मूलतः 'मङ' है। 'मोङ्' को 'मोन्', 'मान' आदि तद्भव रूपों में जानते हैं। यह उस जाति का नाम है जो आज दक्षिण बर्मा तथा थाईलैण्ड (मेनाम घाटी) में है। इनका आवास प्रागैतिहासिक युग में पूर्वी भारत में भी था। 'मोङ् गिरि' (मुंगेर) नाम इस बात के अनेक प्रमाणों में से एक प्रमाण है। इनके द्वारा प्रचारित और प्रयुक्त रत्न को भी 'मूँगा' कहते हैं जो 'मोङ् रत्न' का लघु और तद्भव रूप है। 'मूँगफली' और 'मूँगदाल' शब्दों के अन्दर भी यही संकेत है। क्योंकि अपने आदिम रूप में ये 'मोङ्' या 'मोन्' (बाद में 'मॉन') देश (दक्षिण बर्मा और थाईलैण्ड) से आयात हुए हैं।[१] मेनाम-घाटी की किरात-भूमि थी तो पत्थर और गन्धवती मृत्तिका की ही बनी हुई परन्तु प्राचीन विश्व के लिए यह हिरण्यगर्भा थी। इसी से यह कही जाती थी सुवर्णभूमि।

मेनाम-घाटी के आधुनिक नाम हैं स्याम और थाईलैण्ड। इस मेनाम-घाटी में प्रथम महत्त्वपूर्ण जाति रहती थी जिसे 'मान' (मोङ्) और 'ख्मेर' कहते थे। भारत में इनकी संज्ञा थी 'निषाद'। आधुनिक पण्डित इसे ही 'आस्ट्रिक' कहते हैं। यह समस्त दक्षिण एशिया (भाल) और दक्षिणपूर्व एशिया में फैली थी। सम्भवतः 'माल' या 'मल्ल' भी इनसे जुड़े थे किसी-न-किसी रूप में। पुराणों में इन्हें ही 'नाग-वंशीय' क्षत्रिय भी कहा गया है। बाद में चीन के किरातों (मंगोलीय) ने, जो अपने को 'शान' और 'थाई' कहते थे, आक्रमण किया और इसे ११वीं-१२वीं शती में हस्तगत करके अपना देश बना लिया। 'थाईलैड' और 'याम' नाम के स्रोत क्रमशः यही 'थाई' और 'शान्न' शब्द हैं। थाई का अर्थ होता है 'चितन' और 'शान' का 'बर्बर'। उत्तर चीन के सभ्य निवासी इन्हें 'शान' कहते थे। शान-आक्रमण पश्चिम की दिशा में असम पर और दक्षिण की ओर मेनाम घाटी पर एक ही समय में हुआ है। असम के अहोम भी 'शान' ही हैं। थाई लोग निश्चय ही 'चितक' संज्ञा के अधिकारी हैं क्योंकि न तो असम में वे मुगलों के अधीन हुए और न मेनाम घाटी में चीनी सम्राट के ! मेनाम घाटी के थाई नृपति ब्राह्मण धर्म से आकर्षित हुए थे। उनके पुराने राजागण रामकामेङ् और रामाधिपति से लेकर अर्वाचीन शासक चूल लाङ्कर्ण तक हम थाईमान संस्कृतियों की संयुक्त भूमि मेनाम घाटी को निरन्तर स्वतन्त्र पाते हैं। इतिहास में वे कभी परतन्त्र नहीं हुए। दक्षिण चीन के 'नानचाओ' (यून्नान) की जिस रियासत और दक्षिण मेनाम घाटी में उतरे थे वह रियासत भी भारतीय

संस्कृति के ब्राह्मण-बौद्ध प्रभाव से मुक्त नहीं थी। वहाँ भी मौर्यकाल के विघटन के बाद ही एक भारतीय उपनिवेश बसा था जिसका अस्तित्व हज़ारों वर्षों तक रहा। थाई राष्ट्र की राजधानी बैंकाक का राष्ट्रीय थियेटर रामायण-थियेटर ही है और रामकथा का थाई-साहित्य और संस्कृति में अद्भुत प्रचार है। इनके बौद्ध धर्म के बावजूद राजगुरु ब्राह्मण ही हैं। इस बात की चर्चा हम आगे करेंगे। यह बैंकाक नगरी पूर्व का 'वेनिस' है। पश्चिम में समुद्र-प्रेयसी है वेनिस तो पूर्व में बैंकाक। पश्चिम की रानी का गात्र है दुग्ध-आलक्तक वर्षा और उंगलियाँ हैं उगते ऊषा-जैसी अरुण वर्ण, तो इस पूर्व की रानी का गात्र है चम्पक वर्ण और उंगलियाँ हैं स्वर्णचम्पा की कलियों-जैसी। ऐसी है पश्चिमी पर्यटकों की धारणा। परन्तु स्वयं थाई भाषा में 'बैंकाक' रानी नहीं है, राजकुमार है। 'बैंकाक' का शब्दार्थ होता है—'नदी कुमार'। परन्तु यह नदी-कुमार कार्तिकेय या भीष्म-जैसी प्रकृति का न होकर, अपने हृदय में शील-श्रद्धा वीर्य-स्मृति और समधि के 'पंच' कुशल को प्रतिष्ठित किए हुए भी, ध्यानी बुद्ध की मुद्रा में नहीं बैठा है, बल्कि अनुपम विलासी किन्नर या गंधर्व की तरह बहु-भंग-मुद्रा में खड़ा है। आधी रात ढलने पर मालकोश राग की यक्ष-मुद्रा में इस नदी-पुत्र नगर के पद्म-पलाश-लोचन आसक्त हो जाते हैं और पानगृहों में नृत्य की गति उद्दाम हो उठती है, तत्पश्चात् गृह-कक्षों के दीपक की द्युति पतली होते-होते सुखद हल्की और अन्त में नीलाभ हो जाती है और यह भोगी अपनी तृषा-रति-आर्त्ति तीनों मार-कन्याओं से खेलता-खेलता सो जाता है। बैंकाक ही नहीं, समस्त थाईलैण्ड के स्वभाव में किन्नर-गन्धर्व का वास है। भारत के मणिपुर की तरह यहाँ भी प्रत्येक कन्या के लिए आवश्यक है नृत्य सीखना। वस्तुतः मेनाम नदी समुद्र के आलिंगन में आने के पूर्व आवेग-विगलित होकर शिरा-उपशिरा में बह चली है और इस नदी तथा इस सहस्रबाहु समुद्र के आलिंगन के मध्य-स्थित हृदय पर स्थित कौस्तुभ मणि-जैसा बैंकाक नगर भी आवेग-विगलित होकर तरल स्वभाव-जैसा हो जाता है।

मेनाम अर्थात् जलमाता, 'मे' और 'मी' का अर्थ होता है माता। 'नाम' का थाई भाषा में अर्थ होता है 'जल'। सम्भवतः असम प्रदेश में थाई भाषा के प्रभाव से ही (असम के 'अहोम' भी थाईवंशीय ही हैं) कई नदियों के नाम के साथ 'नाम' जुड़ा है जैसे, 'नागदाङगा' या 'नामयाङ्'। असमीया भाषाविदों की यही धारणा है। यों नदी का पूरा नाम है 'मेनाम चाये फाया' (जलमाता का राजकुमार) और इस अर्थ में नदी 'ब्रह्मपुत्र' की ही भाँति पुंल्लिग है। यह नदी नहीं नद है। 'फाया' या 'फया' या 'फा' तीनों का अर्थ होता है 'राजा' या 'श्रेष्ठ' या 'बुद्ध' परन्तु ऐसा एक हाथ लम्बा नाम जन-जिह्वा को स्वीकार कैसे होगा। अतः चालू नाम हुआ 'मेनाम' अर्थात् 'जल-मातृका'। अतः चालू नाम के हिसाब से यह नदी है, नद नहीं। इसका जन्म होता है थाईलैण्ड के धुर उत्तरी अंचल में जिसमें से अनामा अथवा नाम-

वाली असंख्य छोटी जल-धाराएँ फूटकर निकलती हैं और अपने पश्चिमी-दक्षिणी या पूर्वी ढाल के अनुसार क्रमशः सालविन (शैलविनी), मेनाम और मीकाङ् में जाकर मिलती हैं। थाईलैण्ड की उत्तर माल-भूमि 'मरकत बुद्ध' की ग्रथित-गुम्फित अलकजाल-जैसी है जिसमें से छोटी-बड़ी असंख्य गंगाएँ सशब्द गान करती हुई बहती हैं। मेनाम इस मरकत-वर्णी शैलबुद्ध के सहस्रार से फूटी हुई सुषुम्ना जलधारा है और इसकी सहायक नदियाँ मेपिङ, मेवाङ् तथा मेयाङ् उस शैल बुद्ध के कपाल की शिरा-उपशिरा हैं। इस सुषुम्ना के हृदय में है 'सुको-थाई' (१३वीं शती) का प्राचीन नगर जो थाई राजवंश की राजधानी थी। नाभि देश में है, इनके पूर्वाधिकारी मानो (मोङ्) के द्वारावती राज्य की राजधानी तथा इसके मूलाधार में है नदी-मुख पर स्थित आधुनिक बैंकाक। बैंकाक नगरी में प्रसिद्ध मरकत बुद्ध की प्रतिमावाला विख्यात राज-मन्दिर है, गोया समुद्र-तट पर बुद्ध मरकत नील रूप धारण करके वज्रासन पर स्थित हैं और अपनी दक्षिण श्रुति से भारतीय समुद्र से आती हुई ओंकार की महा-ध्वनि को सुन रहे हैं और वाम कर्ण से सुदूर चीन समुद्र से आती हुई विंश शताब्दी की रणभेरी को और राजनीति के उन्मत्त आलाप को। शताब्दी-दर-शताब्दी की इन दो परस्पर-विरोधी आवाज़ों को सुनते हुए, धर्म और राजनीति के परस्पर विलोम आवाहनों को सुनते हुए वे अपने सन्तुलन के वज्रासन पर आसीन हैं। मेनाम उपत्यका के वर्तमान थाई जाति के रूप में है चीनी-किरात का हुंकार और स्नायु-मण्डल में बज रहा है भारतीय संस्कृति का हुंकार। इस जाति को भी इन विरोधी स्वरों को सुनते-सुनते सन्तुलन की आदत पड़ गई है। हरित-पीत धान के खेतों, नील प्रसन्न आकाश, राजसी धूप, शंख-धवल चाँदनी, उत्तुंग ताल-वृक्षों के कुंज और घने बाँस-वनों में बहती हुई 'जल मातृका' नदी माता और मेनाम, ये सारे दृश्य-खण्ड इस सन्तुलन की दार्शनिक और रसवादी चेतना के साथ पूर्णतः खप जाते हैं।

थाईलैण्ड के प्राचीनतम निवासी हैं मध्यदेश के 'लाओ' या 'लवगण'। तब आते हैं दक्षिणांचल के 'मान' (मोङ्) तथा 'ख्मेर' (कम्बोज) जो एक नस्ल आस्ट्रिक (निषाद या मालय) के भिन्न नाम हैं। और अन्त में आते हैं थाई। यह बात पहले कही जा चुकी है। लवों के सांस्कृतिक अवशेष 'लवपुरी' (वर्तमान तद्भव उच्चारण 'ल' प बुरी') में मिलते हैं जिन पर ११वीं-१२वीं शती में 'कुश थाई' (या 'शुक' थाई) लोगों का आधिपत्य हो गया। लव जाति कभी पूर्वी भारत में वर्तमान 'ला ओस' तक थी। असम के अन्दर प्रचलित 'लाओ-पानी' (लव-पेय) अर्थात् देशी शराब तथा 'लाओ-फल' (लौकी) आदि नामों से इस जाति के सांस्कृतिक अवशेषों का संकेत है। लाओ जाति के बाद सम्भवतः ईसा की प्रथम शतियों में मान लोगों का दक्षिण बर्मा (या भारत) से समुद्री रास्ते से इस देश के दक्षिणी भाग में प्रवेश हुआ। भूगोल की दृष्टि से दक्षिण थाईलैण्ड वस्तुतः मालय अन्तरीप का ही एक

भाग है। मान बर्मा से मालय अन्तरीप में जा बसे। साथ ही दक्षिण थाईलैण्ड में तथा इनका इतिहास मालय देश (वर्तमान 'मलाया') से जुड़ा है। वस्तुतः कम्बोडिया, स्याम और मालय देश का इतिहास संयुक्त ही रहा है। इन्हीं मानों ने द्वारावती साम्राज्य स्थापित किया था। जिसकी राजधानी नींव पर ही बनी है थाई 'अजुतिया' (अयोध्या)। मानों के बाद तीसरी शक्ति का प्रवेश हुआ उत्तर से १३वीं शती में और १२५६ में हमें 'रामकामेङ्' नामक 'थाई' राजकुमार ने मेनाम के तट पर 'शुक' (कुश) टाई राज्य की स्थापना की। यह रामकामेङ् बड़ा ही पराक्रमी राजा था और अपना आदर्श मानता था सिंहल के पराक्रमबाहु को। पराक्रमबाहु के अनुकरण में ही वह बौद्ध संस्कृति का संरक्षक बना। परन्तु इनके नाम से और रामायण-संस्कृति की व्यापकता से पता चलता है कि ब्राह्मण संस्कृति की जड़ें देश में गहरी थीं और यह सम्भव है कि रामकथा से इन शुकथाईवंशीय चीनी किरातों का पूर्व पश्चिम रहा हो जब ये ७वीं शती में यून्नान प्रदेश (चीन) के भारतीय उप-निवेशों के पड़ोसी थे। रामकामेङ् का पुत्र था 'लौ' (लव) तथा पौत्र था 'लू'। परन्तु १४वीं शती के बाद इस शुकथाई राज्य का पतन हुआ। इसी वंश के एक राजकुमार ने दूर जाकर वर्त्तमान 'लाओस' (लव-राज्य) की स्थापना की और दूसरे राजकुमार ने मानवंशीय नरेशों की द्वारावती की नींव पर ही एक नयी नगरी की स्थापना की 'अजुतिया' या 'अजुधिया' (अयोध्या)। इस राजकुमार ने अपना थाई नाम बदलकर नया नाम धारण किया रामाधिपति। रामाधिपति ने प्राचीन अंगकारे राज्य (कम्बोडिया) को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। तत्पश्चात् इतिहास में यह विडम्बनापूर्ण तथ्य घटित हुआ कि ठीक बर्मा की ही तरह यहाँ भी चीनी-किरातवंशीय थाईगण विजेता होकर भी पराजित मानख्मेर (मालय-कम्बोज) संस्कृति के दास हो गये। रामाधिपति एवं उसके सेनापतिगण शानदार अंगकोर के 'वाट' (मन्दिर) तथा सपूतों और विकसित शिल्प-संस्कृति को देखकर दाँतों तले उँगली दबाने लगे। बाद में उन्होंने न केवल शिल्प बल्कि खान-पान, वेशभूषा, साहित्य और आचार-विचार के क्षेत्रों में भी पराजित संस्कृति का अनुकरण करना शुरू किया। आज जो थाईलैण्ड मन्दिरों से भरा पड़ा है, वह इसी सांस्कृतिक आह-रण के कारण है जिसकी प्रक्रिया रामाधिपति (१४वीं शती) से चूल लाङ्कर्ण (१९वीं शती) तक चलती रही है। कम्बोडिया में जब हिन्दू धर्म समाप्त हो गया तो अंगकोर श्री वाट के विष्णु मन्दिर के पुरोहितगण एवं अन्य ब्राह्मणों ने थाई लोगों की 'अजुतिया' (अयोध्या) में आकर शरण ली। आज भी थाईलैण्ड के राजा-प्रजा बौद्ध हैं। परन्तु राजपुरोहित है ब्राह्मण। पुरोहित की संज्ञा है 'ब्रह्मा राजगुरु'। थाई संस्कृति बड़ी सहिष्णु और उदार रही है। वे बौद्ध होते हुए भी रामायण संस्कृति से ओत-प्रोत हैं और शिव-विष्णु आदि देवताओं का वे पूजन तो नहीं करते

परन्तु सम्मान अवश्य करते हैं। थाई भाषा में संस्कृत के तद्भव शब्दों की बहुत बड़ी संख्या है और वहाँ की विधि-संहिता को 'फ्रा-धम्मशास्त्र' कहते हैं। थाईलैण्ड की मनोभूमि में भारतीय दृष्टि की समदर्शिता का परिचय उनके इतिहास आदि नृपतियों से लेकर चूल लाङ्कर्ण तक, सभी ने राजनीति से अधिक श्रद्धा-शील को महत्त्व दिया है। यहाँ पर इस इतिहास-चर्चा का उद्देश्य है उस सन्तुलन और समन्वय दृष्टि के महत्त्व को उपस्थित करना जो भारतीय-चिन्तन की प्रमुख विशेषता रही है और जिसे दक्षिण-पूर्व एशिया ने भारत से प्राप्त किया था। अथवा यह भी सम्भव है कि भारत की नव्य आर्य संस्कृति स्वयं भारतीय भूमि में बसे इन्हीं निषादगोत्रीय संस्कृतियों की ऋणी हो इस उदार दृष्टि-भंगी और मानसिकता के लिए। क्योंकि दक्षिण एशिया (भारत) और दक्षिण-पूर्व एशिया (बर्मा, थाईलैण्ड, कम्बोडिया, लाओस, वीयतनाम, मालय, इण्डोनेशिया) की संस्कृति नींव और आल-बाल रचते हैं निषाद या 'आस्ट्रिक' गण।

इस प्रकार हम देखते हैं कि थाईलैण्ड, लवों, मानों, ख्मेरों (कम्बोजों) और अन्त में थाई गण की पितर भूमि है, जिसकी रचना 'जलमाता' मेनाम करती है। यह देश अपने भीतर पाई जानेवाली असंख्य नागछत्र के नीचे आसीन बुद्ध-प्रतिमाओं की तरह सहस्रफण समुद्र के तट पर समाधि में बैठा है और दक्षिण कर्ण से हज़ार-हज़ार वर्षों से भारतीय महासागर की हुंकार-ध्वनि सुन रहा है और वाम कर्ण से चीन समुद्र की उन्मत्त यांत्रिक ललकार। मुझे मान-शैली में तराशी गई नागछत्र के नीचे ध्यानस्थ अनेक बुद्ध प्रतिमाएँ स्मरण आ जाती हैं। अँगूठियाँ केशी शीर्ष चूड़ा, पतली परन्तु धनुष-सी खिंची हुई भौहें जिन पर ध्यान का शर सजा हुआ है और मन की प्रत्यंचा असीम बिन्दु को छूती हुई सहस्रार तक खिंच चुकी है, फलतः भौंहों की भंगिमा में भी लक्ष्य के प्रति उन्मुख खिंचाव का असर स्पष्ट हो उठा है। चक्षु अर्धनिमीलित और स्थिर हैं। पद्म-पाँखुरी-जैसे स्निग्ध और उदास होंठ हैं और पत्थर का चेहरा भी वैराग्य-भाव से भास्वर हो उठा है। दक्षिण हस्त भूमिस्पर्श-मुद्रा में है और वाम हस्त नाभि के नीचे। उँगलियाँ अत्यन्त सुन्दर, तरुणी नारियों-जैसी अथवा पतली मूँग की फलियों-जैसी। कलाकार की छेनी ने कठोर पत्थर में भी कोमलता और नरम स्पर्श का इन्द्रजाल रच दिया है। मुखमण्डल ईषत् आनत है, परन्तु देहयष्टि सीधी है, मेरुदण्ड बिलकुल ऋजु है और आसन बृहद्पद्म पुण्य है तथा शीश पर सात फणों का नाग-छत्र है। यही है प्रसिद्ध 'नागबुद्ध' प्रतिमा जो 'नाग' (अर्थात् 'मान-ख्मेर' या 'मोङ') शैली की प्रति-निधि रचना मानी जाती है। सारा दक्षिण-पूर्वी एशिया, विशेषतः थाईलैण्ड और कम्बोडिया के अवशेषों में नागबुद्ध प्रतिमाएँ प्रायः मिलती हैं और भारतीय कला में जो स्थान 'अनन्त शयन', 'ध्यान बुद्ध' और 'नटराज' मूर्तियों का है, वही स्थान

दक्षिण-पूर्व एशिया में भूमिस्पर्श मुद्रावाली 'नागबुद्ध' प्रतिमाओं का है। परन्तु इस प्रतिमा की आकृतिगत तथा अलंकरणगत 'मानख्मेर' विशिष्टता चाहे जो हो, भाव-मूलत: भारत की वज्रासन-स्थित ध्यानी बुद्ध-प्रतिमा का अनुकरण मात्र है। आत्मा का स्रोत भारत या बौद्धों की भाषा में जम्बुद्वीप ही है। कला और साहित्य आत्मा और देह दोनों के दर्पण हैं। प्रतीक रूप में जो बुद्ध-प्रतिमा के लिए सही है, वही सही है थाईलैण्ड अथवा समग्र दक्षिण-पूर्व एशिया की संस्कृति के लिए। इनके देह, अलंकार, आकृति यहाँ तक कि धमनी-शिरा में बहनेवाले रक्त तक अभारतीय हैं, किरात-निषाद हैं, परन्तु इनके स्नायु-मण्डल में, मानस-लोक में और सबसे बढ़कर आत्मा में, भारत प्रतिष्ठित है।

आज भी प्रति वर्ष जब मेनाम की घाटी में कृषि-उत्सव का शुभारम्भ होता है तो बैंकाक के मरकत बुद्ध के मन्दिर के प्रांगण में मिथिला, वैशाली और त्रेता युग उतर आते हैं। भारत में रंगीन चूर्ण से 'चौक' पूरा जाता है तो थाईलैण्ड में फूलों से यह अल्पना-विधान सम्पन्न होता है। पुरोहितगण कृषि-उत्सव की भूमि के चारों ओर मंत्र पढ़कर रक्षा-सूत्र बाँधते हैं। प्राचीन मिथिला की परम्परा के अनुसार पहले राजा स्वयं आता था तो आजकल राज के कृषि-मंत्री महोदय परम्परागत राजकीय वेश में आते हैं और शिव तथा बुद्ध की मूर्त्तियों को दण्डवत करने के पश्चात् स्वयं तीन हराई हल चलाते हैं और पीछे-पीछे राजवंश की नारियाँ स्वर्ण-पात्रों में रखे धान के बीज बोती चलती हैं। पुरोहित-कण्ठों से अनवरत संस्कृत स्तोत्रों का पाठ चलता रहता है। उत्सव के समापन के समय प्रजा धान के बीजों को लूटती है। इसका एक दाना पा जाना भी लक्ष्मी का आशीर्वाद माना जाता है।

जिस दिन मैंने एक आधुनिक पर्यटक की पुस्तक में, मेनाम घाटी में कृषि समारम्भ के उक्त वार्षिक उत्सव का वर्णन पढ़ा, उस दिन मैंने बृहत्तर भारत (ग्रेटर इंडिया) के बारे में कल्पना तरंगायित मन से चिन्तन किया।[२] मैं लाल, नारंगी, हरी और नीली ईटों के मेल से बने उन असंख्य 'श्री बाटों' का स्वप्न देखता रहा जो मेनाम के निर्मल प्रसन्न जल में झलमल प्रतिबिम्बित होते हैं। ये 'श्री बाट' भारत की अभौगोलिक भावमूर्त्ति रचते हैं क्योंकि इनके भीतर भारतीय बुद्ध और भारतीय शिव के पद्मासन प्रतिष्ठित हैं। दक्षिण-पूर्व एशिया में देव-मन्दिरों को 'बाट' या 'पाथ' कहते हैं तथा देवमण्डपों को 'चण्डी'। उस दिन मैं सारी रात स्वप्न देखता रहा, अमरावती, ताम्रलिप्ति, मांजीवरम् या गोदारा से छूटे जलयानों, अर्णव पोतों और रंगबिरंगी नौकाओं का स्वप्न; बनारसी मयूरपंखी से लेकर गौड़ीय मल्हन, चम्पन, पानसी, मणिक डोंगा और उत्कलीय ऐरावत पोतों का अद्भुत स्वप्न, उनके हरित-नील और केसरिया पालों के स्वप्न; उनकी धीर-मन्थर हंसगति का स्वप्न; उन पर लदे, कौशेय-क्षौम, ताँबे चाँदी और सोने के शिल्प, मणिमाणिक जड़े अलंकारों

से लेकर सुगन्धित द्रव्यों, ओषधियों, गांगेय जटामांसी, असमीया का लागरू; काष्ठ चन्दन तथा हाथीदाँत के स्वप्न; मंजूषाओं में बन्द तालपत्र की पोथियों का स्वप्न; ब्राह्मणों के त्रिपुण्ड-अंकित ललाटों तथा श्रमणों के शान्त मुख-मण्डलों का स्वप्न; सबसे बढ़कर जलधि की उत्ताल तरंगों पर झूलती एक नौका पर चढ़ी एक अकेली उत्पलवर्णा राजकुमारी का स्वप्न जिसके हाथ में बोधिवृक्ष की एक कछी है, और आश्चर्य यह है कि लहरें किसी मंत्र या अदृश्य शक्ति के प्रभाव से उस नौका को बिना नाविक के ही वाहित किये जा रही हैं। मैं सारी रात इतिहास-समुद्र पर विचरण करता अदृश्य पवन बनकर, इधर-से-उधर तक और रह-रहकर उस अकेली नौका की ओर लौट आता था और बार-बार देखता था उस अकेली लता-सी पतली, चम्पक आभावाली राजकुमारी को। बार-बार पूछने की इच्छा होती थी कि तुम कौन हो, क्या तुम मेनाम नदी की राजकन्या हो, तुम्हारे हाथ में यह बोधिद्रुम की नन्ही शाखा क्यों है? इस में नीला कमल और नीलाशुक क्यों नहीं विराजते? उदास राजकन्या, तुम यदि बता दो कि तुम कौन हो तो तुम्हारी विराग कथा को मैं रागरंजित कर दूंगा और तुम्हारी कीर्ति के श्लोकों को तालपत्रों पर अंकित कर प्रत्येक दिशा में बाँट आऊँगा। परन्तु मेरे मन-पवन को कोई उत्तर नहीं मिलता। और वह अनामा रूपसी उत्ताल समुद्र की तरंगों पर बहती चली जाती है किसी सुदूर प्रवाल-द्वीप या लवंग-द्वीप की ओर, अथवा दारुचीनी के सुगन्धित वनों की ओर। मेरा मन-पवन सारे दृश्य को अतृप्त भाव से देखता रह जाता है।

अब मैं श्वेत हाथियों की नदी मेनाम की चर्चा समाप्त कर रहा हूँ। श्वेत हाथी और ऐरावत गजों की यह नदी मेनाम मुझे उतनी ही प्रिय है जितनी गंगा-ब्रह्मपुत्र और गोदावरी-कृष्णा हैं। जब भारतीय मन इसके तट पर भी विचरण करता है, भारतीय कल्पना के मंगलमय श्वेत गज इसकी धारा में भी जलपान करते हैं, और भारतीय बुद्ध के यह भी पद-प्रक्षालन करती है, तो यह मेरी दृष्टि में किसी भी भारतीय पुण्य सलिला से किसी भी अर्थ में कम नहीं। औरों के लिए ये सारी नदियाँ-मात्र जलधाराएँ हैं। परन्तु मैं इन्हें मानस-लोक की विरजा नदी का प्राकृत रूपान्तर मानता हूँ। मैं यदि कोई वैदिक कवि होता तो बृहत्तर भारत का नदी-सूत्र रचता और गंगा-सिन्धु-कावेरी के साथ ब्रह्मपुत्र एवं इरावदी-मेनाम-मीकाङ् को जोड़कर नये 'सप्तसिन्धु' की वन्दना प्रस्तावित करता।

---

१. 'मोङ'—'मूंगफली' को 'चीना बादाम' भी कहते हैं। 'चीन' या 'चीना' या 'महाचीन' शब्द सदैव आधुनिक चीन का द्योतक नहीं। यह ढीले तौर पर सम्पूर्णतः किरात-भूमि (दक्षिण-पूर्व एशिया) के लिए आता है।

२. 'ग्रेटर इंडिया'--'बृहत्तर भारत' शब्द में शायद किसी को साम्राज्यवाद की गन्ध मिले, इसी से आजकल 'प्रतर भारत' (Further India) भी कहने का रिवाज है।

३

मीकाङ्-गाथा

कहाँ मीकाङ् की गंगा और कहाँ अपना जम्बुद्वीप ? तो भी किस्मत खींच ले गई उस ब्राह्मण को। स्वर्णचञ्चु राजपक्षी-जैसा एक शस्त्रधारी ब्राह्मण। कहते हैं वह कोई गंगातीरी ब्राह्मण था। चीनी राजदूत काङ्टाई के द्वारा बाँसपत्रों पर उत्कीर्ण कथा में ऐसा ही लिखा है। यह कथा ईसा की तीसरी शताब्दी में उत्कीर्ण की गई थी। बाँस के पतले पत्तरों पर। उस पर सूखी स्याही मल दें तो अक्षर अब साफ़-साफ़ उभर आते हैं। आधुनिक राजनीति अपनी माया का ढाबर पानी इन पन्नों पर बिखेर चुकी है। ये लिप-पुतकर अस्पष्ट हो गये हैं। परन्तु मीकाङ् के जल में उन्हें पखारकर, धो-पोंछकर यदि आज भी सखी स्याही मल दो तो अक्षर फिर बोलने लगेंगे कि जम्बुद्वीप की एक पवित्र नदी (गंगा ही होगी, और कौन होगी ?) के तट पर एक धनुर्धर ब्राह्मण कर्मफल माँगता हुआ सुवर्ण भूमि के अन्वेषण में, समुद्र की लहरों के सफेन शीर्ष को अपने डाँडों से पीटता हुआ आ पहुँचा एक दिन मीकाङ् के त्रिकोण मुहाने पर, जहाँ नदी और समुद्र परस्पर मुख मिलाने में तल्लीन थे, जहाँ भयानक एकान्त था, नदी और समुद्र संगम-रत थे; जहाँ तट की दलदल-कीच में ऐसी-ऐसी प्राणभक्षी अद्भुत लताएँ थीं कि किसी भी उतरनेवाले को जकड़कर चूस डालें; वनस्पतियों के असंख्य बरोहों और जटाओं के मध्य सिसकारी भरते हुए असंख्य तक्षक थे जो अपनी पद्मपराग मणियाँ मुख से उगल देते तो अँधेरे कोटरों में हल्का रहस्यमय प्रकाश छा जाता। प्राचीन चीनी लेख की इस वार्त्ता को पुन: दुहराया है चम्पा (दक्षिण वीयतनाम) के एक शिलालेख ने भी। अत: उक्त ब्राह्मण की यह साहसिक यात्रा समस्त दक्षिण-पूर्वी एशिया की जनश्रुति का एक अंग है। कहते हैं कि दृश्य की सारी भयंकरता के बावजूद ब्राह्मण ज़रा भी विचलित नहीं हुआ। उसने जनमेजय राजा और आस्तिक मुनि की गुहार लगाई और अपने गुरु अश्वत्थामा महाराज का स्मरण किया जो चिरंजीवी बने जम्बुद्वीप के जंगलों में

आज भी विकल विचरण कर रहे हैं। फिर वरुण-सूक्तों का पाठ करते हुए उसने अपने त्रिशूल को पूरे वेग से फेंका जो सनसनाता हुआ मंत्र-प्रेरणा के बल पर नदी-मुख से कई योजन दूर जा धँसा। अश्वत्थामा महाराज को दिये गये स्वप्न के अनुसार यहीं पर उसे अपनी राजधानी का पत्तन करना चाहिए। ब्राह्मण ने अपनी नौकाओं को तट से भिड़ाने का आदेश दिया तथा जलदेवता सहस्त्रशीर्ष नाग का नाम जपता हुआ आगे बढ़ा। तट की अन्य वनस्पति गुहाओं में विचरते हुए तक्षकों और कर्कोटकों ने मारे भय के अपनी-अपनी मणियों को पुन: मुँह में छिपा लिया। वे रंध्र-छिद्र या स्वर-पात में छिपने लगे। सम्भवत: ब्राह्मण के शीश पर नाग देवता के नौ फणोंवाले अदृश्य छत्र को उन्होंने भाँप लिया था। ब्राह्मण ने मीकाङ् की उपत्यका के दक्षिण भाग में अपना राज्य स्थापित किया और राजधानी 'व्याधपुर' की जिसकी चर्चा फाहियान ने भी की है, नींव डाली। कहते हैं कि पाताल लोक की नाग कन्याओं ने उस ब्राह्मण की आरती उतारी, वरुण कन्याओं ने मणि-माणिक की अँजुरी प्रदान की और नागों की राजकन्या ने अपने अलंकृत यौवन से उसे धन्य किया। चम्पा में प्राप्त चौथी शती के एक लेख के अनुसार उस ब्राह्मण का नाम था कौण्डन्यि और नागकन्या का नाम था सोमा। कौण्डन्यि और सोमा के माध्यम से वर्त्तमान कम्बोडिया (कम्बोज) के इतिहास के सोमवंश का सूत्रपात होता है। आर्यपूर्व निषाद-किरात संस्कृतियों में मातृसत्ता की प्रधानता थी अत: गोत्र-नाम माता के अनुसार ही चलता था।

परन्तु चीनी लेख में, जो चम्पा के उपर्युक्त शिला-लेख से एक सौ वर्ष पुराना है, ब्राह्मण का कोई नाम नहीं दिया गया है और उक्त देश की राजकुमारी का जो नाम दिया गया है वह है "सरोवृक्ष की पत्ती" और नगर का नाम है "शिकारियों का नगर" जो 'व्याधपुर' शब्द का चीनी अनुवाद है। चीनी लेख से अन्दाज़ लगता है कि यह घटना ईसा की प्रथम शती की है और चम्पा के अभिलेख से पता चलता है कि यह तीसरी या चौथी शती की बात है, क्योंकि शिलालेख चतुर्थ शती का है। दोनों लेख सम्भवत: सत्य की इतिहासगत आकृति को न व्यक्त करके ऐतिहासिक सत्य के मिथकीय रूपान्तर को व्यक्त करते हैं। मूल बात यह है कि ईसा की प्रथम शतियों में भारतीय उपनिवेशकारियों का आगमन मीकाङ् की उपत्यका में घटित हुआ था। चीनी दस्तावेजों में सुरक्षित जनश्रुतियाँ बताती हैं कि जब जम्बुद्वीप के उस ब्राह्मण की रणतरी आकर दक्षिण चीन समुद्र के उपकूल अर्थात् वर्त्तमान कोचीन चीन जा भिड़ी, तो तट-देश के नागवंशीय किरातों की रानी अपनी सेना के साथ उसके सम्मुख आई जिसमें पुरुष वल्कलधारी थे और नारी सैनिक नग्न। उनकी शीर्षचूड़ा में हरित या नीलमणियाँ गुँथी थीं और हाथों में थे अनगढ़ शस्त्र। उक्त ब्राह्मण ने अपने गुरु अश्वत्थामा का स्मरण करके रानी

की नौका पर वरुणपाश फेंका जिसकी अँकुसी रानी की नौका के सीमन्त में जा धँसी, नौका छटपटाती रही और जम्बुद्वीप के नाविकों के कुशल हाथ पाश के गोन को खींचते रहे। इस प्रकार रानी का अपहरण हो गया। अश्वत्थामा के उस शिष्य ने तुरन्त आकर रानी के नग्न गात्र पर अपना कौशेय उत्तरीय डाल दिया। रानी वस्त्र का प्रथम अनुभव करके लज्जा से अवनत हो गई और आश्चर्यचकित भी। रानी के समर्पण का अर्थ हुआ सारी जाति का समर्पण। बाद में उसी ब्राह्मण ने इस द्वीप के निवासियों को वस्त्र बुनना सिखाया, पहनना-ओढ़ना सिखाया, धनुर्वेद सिखाया, रंधन-कला, कृषि-कला और शाला-निर्माण कला सिखाई। इस प्रकार चीनी जन-श्रुतियों के अनुसार मीकाङ् नदी की दक्षिण उपत्यका में भारतीय उपनिवेशों का सूत्र-पात हुआ जिसे चीनी भाषा में 'फाउनान' कहते हैं और जिसके अन्तर्गत दक्षिण कम्बोडिया और कोचीन चीन के प्रदेश आते हैं। वे नागवंशीय मूल निवासी, जिनकी रानी इस भारतीय ब्राह्मण कौण्डन्यि के प्रेमपाश में उलझ गई सम्भवत: मानख्मेर (मोङ् या मालय) नस्ल के थे। यह कौण्डन्यि भारतीय 'ईनियास' था और यदि वर्जिल-जैसा कवि होता तो उसकी प्रेम-कथाओं और युद्ध-गाथाओं पर एक महाकाव्य लिखता। भारतीय पुराणों में मानख्मेर वंशीय लोगों के लिए यदि वे कुलीन हुए तो नागवंशीय क्षत्रिय कहा गया है और यदि वे जन-साधारण हुए तो निषाद। परन्तु इनकी नस्ल और जाति एक ही है। भाषा वैज्ञानिक इन्हें आस्ट्रिक कहते हैं। सत्रह नदी, सात समुद्र पारकर इन प्रदेशों में भारतीय व्यापारी जाते थे और मणि-माणिक, हाथीदाँत और सुगन्धित मसालों से भरी नौकाएँ लेकर लौटते थे। इन प्रदेशों का ही वर्णन रहस्यमय नागलोक कहकर किया जाता था तथा माणिक-मरकत की पार्वत्य खानों और मोती-प्रवाल के आकर, समुद्रों के सान्निध्य में रहने-वाली इस जाति का सम्पर्क मणियों और स्वर्ण से घनिष्ठ भाव से जुड़ा माना गया। फलत: 'नागमणि' की अवधारणा का विकास हुआ और कालान्तर में सर्प और हाथी से भी 'नाग' शब्द के कारण यह जनश्रुति जुड़ गई। 'नाग' शब्द का अर्थ पहाड़ और वृक्ष दोनों होता है। इसी से आरण्यक और पार्वत्य जातियों के लिए नाग संज्ञा उद्भूत हो गई। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि इनमें से कुछ प्रजा-पतियों का 'टोटेम' (जाति प्रतीक) 'नाग' रहा है क्योंकि सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया (सियाम, मलय, कम्बोडिया आदि) में नाग एक महत्त्वपूर्ण कला-रूढ़ि या कला-प्रतीक रहा है भारतीय कमल या सिंह की तरह। नाग इनका जल-देवता है और सहस्र फणोंवाला समुद्र इसकी सगुण मूर्ति है। इनकी देवमूर्तियों पर नागछत्र चाहे वह पाँच फणवाला हो या नौ फणवाला, इनकी एक शिल्पगत विशिष्टता है। सम्भवत: नाग संस्कृति के सम्पर्क में आकर ही भारत में अनन्तशायी देवता की कल्पना की गई है।

मीकाङ् की उपत्यका इस प्रकार अद्भुत घटनाओं की भूमि रही है। सुवर्ण द्वीप के आगे का नागलोक यही कम्बोडिया (कम्बोज), वीयतनाम और लाओस ही हैं। अवश्य ही भारतीयों का रूमानी नागलोक कम्बोज और दक्षिण वीयतनाम (अनाम और चम्पा प्रदेश) तक ही सीमित है। हिन्द चीन के बीचों-बीच महान् अनामी की डिर्लारा पर्वत-शृंखला इस क्षेत्र की सुषुम्ना अस्थि रचती है जो पूरे क्षेत्र का भौगोलिक नहीं सांस्कृतिक विभाजन भी कर देती है। इस पर्वतमाला के उत्तर और पूर्व में चीनी 'ड्रैगन' का प्रभाव रहा है और दक्षिण-पश्चिम में भारतीय धर्मचक्र का। इसी क्षेत्र में भारतीय कल्पना का नागलोक रहा है जहाँ विष्णु अनंत समुद्र का रूप धारण करके सहस्रफण नागदेवता की शय्या पर शयन करते हैं। संभवत: इसकी अवचेतना में वे कभी जाग्रत भी थे। तभी तो विश्व का सबसे बड़ा मन्दिर 'अंगकारे' कभी उनका मणिकूट था। बाद में बुद्ध विग्रह की भी सह-अवस्थिति उसी मन्दिर में हो गई। परन्तु आदि विग्रह था गरुडवाहन विष्णु की ठोस सोने की बनी हुई मूर्ति। दक्षिण-पूर्व एशिया में शिव, विष्णु और बुद्ध तीन देवताओं की सहस्थिति रही है। आज भी दैनंदिन व्यवहार में बुद्ध-ही-बुद्ध हैं, परन्तु शिल्प और साहित्य में शिव और विष्णु समान भाव से जनश्रद्धा के पात्र हैं। अवश्य ही ऐसा घटित हुआ है रामायण और महाभारत के व्यापक प्रभाव के कारण।

हम भारतीयों को नदी बड़ी सुन्दर लगती है। अवश्य ही औरों को भी लगती ही होगी। परन्तु हम पहाड़ और समुद्र से ज्यादा नदी के रूप और गुण पर ही आसक्त रहते हैं; उसमें भी हिमालय से निकली नदी के प्रति और ज़्यादा। हिमालय से हम भौगोलिक ही नहीं आत्मिक स्तर पर भी जुड़े हैं। हिमालय का स्मरण आते ही तुरन्त 'विगलित करुणा, जाह्नवी-यमुना' की याद आ जाती है, प्रशस्त-उदार सिन्धु और ब्रह्मपुत्र का स्मरण हो आता है। मीकांग (उच्चारण के अनुसार 'मीकाङ्') दक्षिण-पूर्व एशिया की मुख्य नदी है और ख़ास हिमालय से निकलकर तिब्बत की मालभूमि से निकलती है। तो भी हिन्दुस्तानी माटी-हवा में पला मेरा मन इसके प्रति भी सहज श्रद्धाशील हो जाता है। ऐसा बहुत-कुछ इस नदी के नाम के कारण है। 'मीकाङ्' का अर्थ है 'गंगा माता'। 'मी' और 'मे' का किरात भाषाओं में अर्थ होता है 'माता'। 'कांङ्' मूलत: 'कङ्' (कंग: > गंग:) का रूपान्तर है और उसी किरात-निषाद धातु से निकला है जिससे 'गंगा' शब्द आता है। 'गंगा' का मौलिक अर्थ आज भी हिमालय की भारतीय किरात-भूमि में 'नदी' ही होता है और अनेक नदियों के नाम से इसके जुड़ने का रहस्य यही है। 'गंग > कंग > किआङ्: > काङ्' आदि ध्वनियाँ हिमालय और हिमालय की पृष्ठ-भूमि तिब्बत से निकली नदियों के नाम से युक्त पाते हैं। सीकिआङ्, मीकाङ्, याङ टी-सी किआङ् आदि। इसी तरह दूसरी 'फेनीम' (ध्वनिमूल) है 'साङ्'। इस

प्रकार एक रूप 'हाङ्' भी होता है। यह तिब्बत और चीन की नदियों के नाम से जुड़ा है 'साङ्पो' (ब्रह्मपुत्र के तिब्बती भाग के नाम का अर्थ है 'बुद्ध नदी') साङ्बा (काली नदी); साङ्काई (लाल नदी) और चीन की प्रसिद्ध 'हाङ्हो' (किरोत नदी या पीली नदी) भारत में इसी तरह काली गंगा, धवली गंगा, नील गंगा, दूध गंगा, आदि अनेक नाम हैं जिनमें गंगा शब्द इसी अर्थ में जुड़ा है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'मीकाङ्' का भी शब्दार्थ होता है 'गंगामैया' ही। यह ठेठ हिमालय से भले ही न निकले, पर इसका भी उद्गम हिमालय का निजी प्रतिवेश तिब्बत की माल-भूमि से ही है। यह दक्षिण-पूर्व और दक्षिण एशिया (भारत-पाक) की सबसे बड़ी नदी है, गंगा-सिन्धु-ब्रह्मपुत्र में से प्रत्येक से इसकी लम्बाई अधिक है। यह कुल २६०० मील लम्बी है जबकि भारतीय नदियाँ सिन्धु १६८० मील और ब्रह्मपुत्र १८०० मील तथा गंगा १५४० मील हैं। पूरे एशिया में याँग टी-सी किआङ्, हाङ्हो और आमूर के बाद इसका चौथा स्थान है। यों विश्व की सबसे बड़ी नदी है नील जो ४१४५ मील लम्बी है।

मीकाङ् की गंगा जनमती है तिब्बत के पठार में, उसके पूर्वी सीमान्त में। यहाँ से कमोबेश सौ मील दूर पर चीन की याँग टी-सी किआङ् का जन्म होता है। यदि हम चीन-तिब्बत और दक्षिण-पूर्व एशिया के नक्शे पर दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि नदी पहले-पहल पठार पार करके दक्षिणमुखी होकर चीन के यून्नान प्रदेश में प्रवेश करती है और तत्पश्चात् थाईलैंड (स्याम) में। फिर यह नदी लाओस, कम्बोडिया की मध्य सीमा बनाती हुई दक्षिण की ओर ही ढलती रहती है। अन्त में यह दक्षिण वीयतनाम (कोचीन-चम्पा) में प्रवेश करके साइगोन के प्रतिवेश में नदी-मुख की रचना करती है और दक्षिण चीन समुद्र में विलीन हो जाती है। अतः मानवीय भूगोल की दृष्टि से यह थाईलैंड, लाओस, कम्बोडिया और दक्षिण वीयतनाम की नदी है। उत्तर वीयतनाम से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। वहाँ की नदियाँ है 'सोङ्बा' (काली नदी) और 'सोङ्बाई' (लाल नदी) जिसके नामकरण में 'सोङ्' या 'साङ्' ध्वनिमूल है। संस्कृति और इतिहास की दृष्टि से उत्तर वीयत-नाम 'चीनी चीनी' है, परन्तु दक्षिण वीयतनाम 'हिन्दी चीनी'। बदली हुई राजनैतिक स्थिति में दो-चार शतियों से नहीं सहस्राब्दियों से दक्षिण वीयतनाम (चम्पा और अन्नम) थाईलैंड और कम्बोडिया की ही तरह 'बुद्ध-हृदय' का एक टुकड़ा है। अवश्य ही भाषा और समाज की दृष्टि से दोनों वियतनाम परस्पर अविभाज्य हैं। यों यह सही है कि इस नदी का सांस्कृतिक परिमण्डल विशेष रूप से कम्बोडिया और लाओस के अन्तर्गत ही आता है, ठीक वैसे ही जैसे गंगा की दो-एक उपधाराएँ बाङ्ला देश में भले ही बहें, परन्तु नदी का सांस्कृतिक परिमण्डल भारत-भूमि ही है।

मीकाङ् २६०० मील लम्बी एक छरहरी शैल-संभवा अप्सरा है। अप्सरा अर्थात् जलकन्या जो अप (जल) से उद्भूत हुई हो। नदी की उत्स-भूमि को 'पैर' कहते हैं और सागर-संगम-स्थल को नदमुख। गोया नदी पत्थर के कठोर हृदय में छिपी थी, अचानक किसी आवेग से अवश होकर बाहर आ गई, सृष्टि-गुहा के बाहर, अपनी पूरी लम्बाई २६०० मील के देह-विस्तार तक सरकती हुई बाहर निकली जन्मजात पूर्ण यौवना उर्वशी की तरह : उर्वशी भी हिमालय के देवता के शिलामय उरुदेश से निकली शिला-सरोरुह है और मीकाङ् भी शैल-संभवा अप्सरा है। तत्पश्चात् यह नदी बाहु पसारकर, चुम्बन प्रस्तुत होठोंवाले उदग्रीव भावमुख के साथ जा मिलती है। अनन्तशीर्षा अनन्तबाहु समुद्र से जिसके वक्ष पर कौस्तुभ मणि है और जो योगनिद्रा छोड़कर उत्कण्ठा विकल होकर नदी की व्यग्र प्रतीक्षा कर रहा है अन्यथा उसके हृदय में असंख्य मणि-माणिक, शंख, अप्सराएँ, अमृत-घट और महाविष सभी क्यों जन्म लेते ? उसका रत्नाकर-रूप उसकी सविकारता के कारण है। यदि वह निर्विकार रहता तो आकाश की ही तरह शांत रहता। चैत की झकझोरती वायु में यह रजोगुण से भर जाता है । भादों की काली रात में यह तमोगुण से आच्छादित हो जाता है । अनुरागमयी ऊषा से यह अबीर खेलता है, मध्याह्न में तप्त और उदास हो जाता है तथा संध्या के रूप को देखकर यह काम-लोलुप और रतनार चक्षु हो जाता है। अतः आकाश शान्त-समाहित नहीं रहता, तो औरों का क्या कहा जाये ? सच तो यह है कि सृष्टि और स्थितिपर्वो में कुछ भी 'विशुद्धम् शान्तम् विरजम्' नहीं। माया अपनी चित्रसारी में बत्तीस लक्षणों से युक्त सौन्दर्य का रूपमय संकेत क्षण-प्रतिक्षण दे रही है। ऐसे में शान्त-समाहित-विशुद्ध कुछ भी नहीं रह सकता। इसके लिए तो तिरोधान और प्रत्यय के कल्पों की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। नदी की चंचल धार, विश्वव्यापी कामना-विह्वलता का ही एक प्रतीक है जिसके आधार पर जीव-जीव परस्पर जुड़ा है, और संसार की रचना, प्रतिरचना चालू है।

मीकाङ् का जन्म होता है तिब्बत-सीमान्त के मृत्यु-शीतल हिम-पठार से। हिमालय 'दिशि-देवात्मा' है। इस देवता के वज्रासन की हिम-यवनिका रचता है तिब्बत का पठार। इसके पूर्वी छोर पर चीन के एक छोटे-से कस्बे 'यू-शू' २० मील पूर्व तिब्बत-भूमि से यह नदी मीकाङ् निकलती है। याङ् टी-सी किआङ् और सालिवन दोनों नदियों के उद्गम इससे क़रीब सौ-सौ मील दूर पड़ जाते हैं। नदी पहले दक्षिण-पूर्व की ओर मुख करके चलती है। फिर दक्षिण दिशा की ओर मोड़ लेकर यह नदी चीन के यून्नान-अंचल में प्रवेश कर जाती है, जो वस्तुतः बर्मा-चीन-थाईलैण्ड और हिन्दचीन (लाओस) के साथ चौमुख जुड़ा हुआ है। यही यून्नान प्रदेश अफ़ीम का मुख्य क्षेत्र है तथा इसी के अन्दर नानचाओं की प्रसिद्ध रियासत है जिसका

अपार ऐतिहासिक महत्त्व है। ईसा की प्रारम्भिक बस्तियों के नाम थे गांधार और मिथिला तथा भारतीय मिथिला के अनुकरण पर ही इनके राजा को 'विदेह राज' की विरह से सम्बोधित करते थे। यह चीन का धुर दक्षिण पद-प्रान्त है। और इसके नीचे है इरावदी के स्रोत के पास 'मेमो' नामक क्षेत्र। चीन जाने का प्राचीन मार्ग, 'माणिक पथ' जाता है इसी मेमो से होकर। इरावदी स्रोत का उत्तरी भाग मरकत और माणिक पत्थरों के लिए जगद्विख्यात रहा है। भारतीय सौदागर प्राचीन काल में इसी पथ से होकर चीन जाते थे और दक्षिणी सीमान्त में प्रवेश करके उन्हें नानचाओ की भूमि मिलती है। मौर्ययुग के बाद के राजनीतिक परिवर्तनों के कारण कुछ साहसी क्षत्रियों ने मगध और मिथिला से आकर यहाँ पर अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये थे और क़रीब हज़ार वर्ष तक इन भारतीय बस्तियों का अस्तित्व रहा है। उन्होंने इन स्थानों को भारतीय नाम दे रखा था यथा गांधार, मिथिला और गृध्रकूट। इसी क्षेत्र में १०वीं शती में थाइयों का उपनिवेश था 'सेंगराय' या 'सेंगराई' और इन थाइयों ने ही रामकारेङ् के अधिपतित्व में दक्षिण-उत्तर मेनाम की घाटी पर अधिकार जमा लिया तथा मानों की द्वारावती को अपने अधीन कर लिया था। ये थाई राजा रामायण-संस्कृति के प्रेमी निकले। ऐसा सम्भवत: इसलिए सम्भव हो सका कि नानचाओ प्रदेश में ही वे इस संस्कृति के सम्पर्क में आ चुके थे। इनसे सौ-दो सौ वर्ष बाद इसी तरफ से 'मैथेई' जाति के किरात गण भारत में नगा प्रदेश में घुसे और वर्त्तमान मणिपुरी जाति इन्हीं की सन्तति है। समाज-विज्ञान का एक सिद्धान्त है कि संस्कृति नहीं बदलती। उसकी आकृति और अलंकरण में पूरी तरह परिवर्तन हो जाने पर भी उसकी आत्मा ज्यों-की-त्यों रह जाती है। यदि ऐसी बात है तो मणिपुरी जाति के अन्दर १६वीं शती के वैष्णव पुनरुत्थान के मूल में यह संकेत भी निश्चित मालूम होता है कि ये 'मैथेई' चीनी मिथिला से किसी-न-किसी रूप से जुड़े थे और एक तरह से यह भारतीय संस्कृति का पुन: गृहागमन ही है। 'मैथेई' शब्द की ध्वनि भी इसी बात का संकेत करती है। यद्यपि मणिपुर के वर्त्तमान इतिहासकार इस शब्द की ऐसी व्याख्या न देकर इसे किसी अज्ञात किरात भाषा का शब्द मानते हैं। जो हो, परन्तु कीकाङ् के नानचाओ क्षेत्र में चीनी गंधार, चीनी मिथिला और चीनी गृध्रकूट का कई शताब्दी व्यापी अस्तित्व एक अद्भुत घटना है। रक्त माणिक और नील मरकत खण्डों की खोज में भारतीय सौदागर तथा उपनिवेश की खोज में भारतीय राज-कुमारगण यहाँ तक अवश्य पहुँचे थे। मणि-माणिक का आकर्षण मनुष्य के लिए इतना प्रबल है कि वह इसके लिए कौन-सा खतरा मोल नहीं ले सकता? दुर्गम अरण्य में कलेजा हाथ पर रखकर धँस जाता है, अतल समुद्र में नाक-कान-आँख बाँधकर गोता लगाता है, उत्तुंग मेरुओं का आरोहण करता है, इन निर्जीव रसहीन,

गंधहीन, शब्दहीन और स्पर्श-कठोर पत्थरों के लिए जिनमें केवल रूप-ही-रूप है और कुछ भी नहीं। दृष्टि-सुख में कितनी माया है, कितनी दुर्निवार तृषा है, कितना प्रबल आकर्षण है। इतिहास-पुराण बार-बार चेताते हैं कि इस दृष्टि-सुख से आँखें चौंधिया जाती हैं, विवेक के नेत्र मुंद जाते हैं, आत्मा ग्लानि से सम्पुटित हो जाती है। "भिक्षुओ, आँखें जल रही हैं! सारा दृश्यमान जगत् तल रहा है!" परन्तु इस चेतावनी का कोई असर नहीं होता और दुनिया कभी सजीव, तो कभी निर्जीव रूप के शंख-विष को बड़े मौज से पान करती है। रूप की खोज आत्म-पीड़न का एक अद्भुत नशा है।

मीकाङ् नदी इस चीनी प्रदेश में दुर्गम गिरि-खातों और दर्रों के बीच बहती है और इस पर्वतीय अंचल में घास-काई-शैवाल और श्यामल हिम पूर्वा को छोड़कर कोई उन्नत श्रेणी की बनानी इसके तट का शृंगार नहीं करती। अवश्य ही कहीं-कहीं ग्रीष्म में बर्फ पिघलती है और पहाड़ों की छाया में भुरभुरी मिट्टी रहती है। इससे ग्रीष्म ऋतु में असंख्य अनामा फूलों का जन्म होता है और मीकाङ् के पथ पर जगह-जगह छोटी-बड़ी पुष्पवीथियों की रचना हो जाती है। जैसे-जैसे नदी दक्षिण की ओर बढ़ती जाती है बनानी का रूप स्पष्ट और वैविध्यपूर्ण हो उठता है तथा वृक्षों की शुरुआत हो जाती है। लुआंग-प्रवांग (लाओस) तक आते-आते तो सारा तट घने श्यामल-हरित वृक्षों से आरण्य मर्मर और ध्वनि, संतुलन हो उठता है और कहीं-कहीं तो गाढ़-गम्भीर छाया के कारण भरी दुपहरी का रूप दारुण काली रात-जैसा हो उठता है। इसी मीकाङ् की अरण्य मर्मर तट-रेखा के तीरे-तीरे चलते हुए थाई-वंशीय किरातगण मेनाम की दक्षिण उपत्यका-भूमि में उतर गये थे। मनुष्य के लिए प्रकृति में दुर्गम तो बहुत-कुछ है, सुगम बहुत कम है, परन्तु अगम कुछ भी नहीं। मनो-बल और चेष्टा के द्वारा मनुष्य सारे अगम पर विजय प्राप्त करता आ रहा है। इस नदी नेदक्षिणमुखी होकर काफी दूर तक 'सियाम' (थाईलेंड) और 'लाओ' (लव जाति) की रक्षा-परिखा का कार्य किया है। थाईलैण्ड में मानों (मोङ) और थाइयों के आगमन से पूर्व लवों का निवास था। बाद में मान गण आकर दक्षिण से लवों को मेनाम की सुवर्णभूमि से बाहर कर दिया और मीकाङ् के पूर्व प्रान्त में ही बचे रहे। मीकाङ् के पश्चिम में या तो वे नष्ट हो गये अथवा मानों तथा थाइयों में गल-पचकर अन्तर्भुक्त हो गये।

मीकाङ् लाओस के बाद कम्बोडिया में प्रवेश करती है। दक्षिण कम्बोडिया को तब 'फ़ाउनान' कहते थे। और उससे जुड़ी हुई कौण्डन्य ब्राह्मण तथा राजकन्या सोमा की प्रेमकथा का उल्लेख हम प्रारम्भ में कर चुके हैं। कौण्डन्य-सोमा के वंशज अपने को चन्द्रवंशी भी कहते थे। उत्तर कम्बोडिया में 'चानला' (चाङ्ला) राज था जिसके शासक 'ख्मेर' वंशीय निषाद थे और अपने को 'कम्बुज' या 'कम्बोज'

कहते थे। इन्हीं के नाम पर बाद में सभी कम्बोज कहलाने लगे। और पूरे प्रदेश ने ही कम्बोडिया (कम्बोज देश) की संज्ञा धारण कर ली। 'फाउनान' को ही 'फूनान' भी कहते हैं। वस्तुत: इसमें दक्षिण कम्बोडिया के साथ-साथ कोचीन चीन भी सम्मिलित था। इसकी राजधानी 'व्याधपुर' का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। व्याधपुर के पास थी 'बनाम' की पहाड़ी और यह आधुनिक नानपेन्ह' (नाङपेन्ह) के दक्षिण में थी। 'नाङपेन्ह' में 'नाङ' या 'नङ' ध्वनिमूल का सम्बन्ध 'नग्' से है जो किरात भाषा का शब्द है, अर्थ है पर्वत। (भारत में 'नग' माने पर्वत होता है। तिब्बत में भी एक प्रसिद्ध पर्वत का नाम है 'नङ या नंगा' पर्वत)। सोमा नागवंशीय राजकन्या कही जाती है और नाग का शब्दार्थ यहाँ पहाड़ी हुआ। बाद में जनश्रुतियों और कथाकारों की रूमानी कल्पना ने इसे पाताल लोक की सूर्यकन्या बताकर कौण्डीन्य और सोमा की कथा को रोमांस का रूप दे दिया। छठवीं शताब्दी में 'फूनान' के एक राजपुत्र ने चानला (उत्तरी कम्बोडिया) की कम्बुज (ख्मेर) राजकन्या से विवाह किया। इस राजकुमार का नाम था भवबर्मन। भवबर्मन को चानला पाणिग्रहण के फलस्वरूप प्राप्त हुआ और फूनान को भी उसने कालान्तर में अपने जेठे भाइयों से छीन लिया और दोनों राज्यों का एकीकरण करके 'कम्बोज' देश की स्थापना की जिसके शासक सूर्य और चन्द्र दोनों के संयुक्त वंशधर कहलाये। इस कल्पना के पीछे दोनों राजकुलों की पूर्वजा राजकन्याओं के नाम हैं। दक्षिण कम्बोडिया (फूनान) के आदि पिता थे कौण्डीन्य और सोमा तथा चानला के राजपुरुषगण महर्षि कम्बु और मीरा नामक अप्सरा के वंशज थे। 'सोमा' शब्द का सम्बन्ध चन्द्र और 'मीरा' का सूर्य से होने के कारण भवबर्मन के बाद यह राजवंश संयुक्तरूप से चन्द्र और सूर्य का वंशधर कहलाया।[1]

ये अपने को कम्बोज क्यों कहते हैं ? एक कम्बोज देश तो भारत के उत्तर-पश्चिम सीमांत में है दाद-कम्बोज। तो यह दक्षिण-पूर्व में एक नया कम्बोज देश कैसे पैदा हुआ ? लगता है कि एक ही नस्ल और राष्ट्र के लोग हिमालय के उत्तर-पश्चिम सीमान्त से दक्षिण-पूर्व एशिया तक कभी अपने को प्रसारित किये थे। तभी तो एक इरावदी (वर्त्तमान रावी) उधर है तो दूसरी इरावदी बर्मा में है। एक कम्बोज उधर है तो अन्य कम्बोज इधर भी है जिसे आज अंग्रेजी के प्रभाव से हम लोग कम्बोडिया कहकर पुकारते हैं। डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार के अनुसार मनिख्मेर (जिसे मालय और नागवंश भी कहते थे) निषाद (आस्ट्रिक) थे और ये दाद-कम्बोज कश्मीर से लेकर समूचे हिमालय के पद-प्रान्त से लेकर, दक्षिण-पूर्व एशिया तक फैले थे। भारत से ही इस जाति का विकीरण दक्षिण-पूर्व दिशा में हुआ है। यही डॉ० राजबली पाण्डेय का भी मत है। इसी से दोनों छोरों पर कम्बोज जाति की अवस्थिति सम्भव है। कम्बु ऋषि और मीरा जो रुद्र लोक की अप्सरा कही जाती है,

बाद की पौराणिक कल्पनाएँ हो सकती हैं। यह भी सम्भव है कि कुषाणों की कोई शाखा कभी यहाँ पर पहुँची थी। चीनी अभिलेखों में एक भारतीय राजा 'चण्डन' का उल्लेख है जो कभी फूनान का शासक था और यह 'चण्डन' या 'चण्ड' कुशाण राजाओं का विरुद रहा है। हो सकता है कि गुप्त साम्राज्य के उदय के साथ कोई कुशाण राजकुमार इधर भाग आया हो और यहाँ पर राजवंश की स्थापना कर गया हो। 'मीरा' शब्द की आमदनी भारतीय भाषाओं में भी शककुशाण या यवन (पारसीक) परम्परा से ही हुई है। यह 'मिहिरा' का अपभ्रंश है और 'मिहिर' (सूर्य) ईरानी आर्य देवता 'मित्र' का। कम्बोडिया के उत्खनन पर भी कुछ गांधार-कुशाण सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं। कम्बोजों के आदि-पुरुष ने जो इनकी ही लोकश्रुति के अनुसार जम्बु द्वीप के कम्बु स्वयंभुव ऋषि थे, जिस रुद्र कन्या का अथवा महेश्वर द्वारा प्रदान की गई जिस अप्सरा का वरण किया था, वह कोई कुशाण राजकन्या थी। इतिहास चाहे जो कहे इनकी लोकश्रुति में 'कम्बोज' (आज भी 'कम्बोजिया' ही शुद्ध देशी उच्चारण है 'कम्बोडिया' नहीं) नाम का यही कारण है। ये जम्बु द्वीप के ऋषि संभवत: अनार्यगोत्रीय मानख्मेर (निषाद) थे। कम्बु का अर्थ होता है शंख। निषाद प्रकृतिवादी थे। प्रकृति ही मूल और प्रधान है, उनका यही दर्शन था और अपनी लोकायत परम्परा में इसी को आज भी वे जहाँ हैं, पकड़े हुए हैं। कुछ पंडितों की धारणा है कि 'सांख्य' का मूल निरीश्वरवादी रूप अनार्य लोकायत परम्परा का दर्शन है और इसका असली नाम है 'शांख्य' जिसे किसी 'शंख' नामक दार्शनिक ने चलाया था बाद में कपिल ने इसे वेदान्ती रूप दे दिया। समुद्र से सम्बन्धित जातियों में किसी ऋषि का नाम 'कम्बु' स्वयंभुव या 'शंख' होना आश्चर्य नहीं। हम यह तो नहीं कह सकते कि कम्बोज के कम्बु ही 'सांख्य' के शंख हैं। परन्तु जैसे अनेक वशिष्ठ हुए हैं और अनेक भृगु हुए हैं वैसे ही समुद्र से सम्बन्धित भारतीयों (अर्थात् निषाद) में एक से अधिक कम्बु या शंख हो सकते हैं। इतिहास को बूंद-बूंद चुआकर जो 'इतिहास-मधु' प्राप्त होता है वही होता है 'मिथक' या 'लोकश्रुति'। कम्बोज नाम पड़ने की लोकश्रुति भी बड़ी ही संकेतपूर्ण है। इस प्रकार छठवीं शती से कम्बोडिया के संयुक्त रूप का उदय और विकास प्रारम्भ होता है भवबर्मन के नाम के साथ। इसके बाद एक-से-एक राजा आते गये। ये एक ही राजवंश के नहीं थे। पर इनमें परस्पर कुटुम्बगत सम्बन्ध रहा है।

राजेन्द्रबर्मन ८वीं शती का प्रतापी राजा था। उसके पुत्र महीपतिबर्मन के हाथ में जब शासन गया तो उसने एक दिन गर्व में आकर कहा, "मैं श्रीविजय (जावा) के शैलेन्द्र का सिर थाली में प्रस्तुत करना चाहता हूँ।" यह खबर बन्दरगाह-दर-बन्दरगाह उड़ती हुई एक वर्ष बाद जावा पहुँची और फल हुआ प्रतापी शैलेन्द्र द्वारा दुर्धर्ष आक्रमण व्याधपुर, अनिन्दितपुर तथा राजधानी सबौर को बुरी

तरह ध्वंस कर डाला गया। महीपतिबर्मन का कटा शीश और उसके पुत्र जयबर्मन द्वितीय को लेकर जावावाहिनी पुन: लौट गई। यही जयबर्मन द्वितीय बाद में लौटा तो श्रीविजय (जावा) की श्रेष्ठ संस्कृति के गुणों को भी अपने साथ लेता आया। उसकी प्रशस्ति में लिखा गया है, "इनका उदय शतदल पंकज की भाँति हुआ जिसका अपनी आधार-भूमि पंक से कोई सम्बन्ध नहीं रहता!" जयबर्मन के साथ ही कम्बोडिया के इतिहास में एक नया सांस्कृतिक विप्लव प्रारम्भ होता है। ये राजागण 'हरिहा' मूर्तियों की उपासना करते थे। इनके गुरु ब्राह्मण थे और शिव तथा विष्णु के संयुक्त स्वरूप की अनेक मूर्तियाँ कम्बोडिया के उत्खनन में पाई गई हैं। कम्बोडिया में 'मेरु' या 'शिखर' शैली के मन्दिरों का निर्माण जयबर्मन द्वितीय द्वारा ही प्रारम्भ होता है। कम्बोडिया के इतिहास प्रसिद्ध अंगकोर साम्राज्य की नींव इसी सम्राट ने डाली थी, जिसकी वंश-परम्परा में उत्पन्न राजाओं ने विश्व की कला के इतिहास में अंगकारे श्री बाट का निर्माण कराकर अपनी अक्षय कीर्ति स्थापित कर दी है। इस राजा के प्रपौत्र यशोधर बर्मन ने यशोधरपुर की नींव डाली। मीकाङ् नदी से कुछ दूर उसकी घाटी में ही स्थित एक विशाल झील 'टोनी सैप' के तट पर। यही आगे चलकर १२वीं शती में अंगकारे नगर के रूप में ख्यात हुआ। 'अंगकारे' शब्द 'नङ्नगर' (शैलपुरी) का अपभ्रंश है। इस शब्द का प्रथम वेद 'नङ्' है ख्मेर भाषा का और द्वितीय 'नगर' है संस्कृति भाषा का। नगर और नगर के मध्य जगत-प्रसिद्ध (श्री बाट) दोनों की कल्पना सुमेरु पर स्थित देवताओं की अमरावती (बौद्धों की सुदर्शनापुरी) के अनुरूप की गई है। सूर्यबर्मन द्वितीय (११३१-११५० ई०) ने इस प्रसिद्ध मन्दिर की नींव डाली थी। कहते हैं कि इस राजा ने पंचशिविर शैली में भगवान् विष्णु के जिस मन्दिर का निर्माण करवाया था उसके चारों कोणीय शिखरों की अटारियों पर इसके अपने निजी मंत्रणाकक्ष और संगीतकक्ष थे और मध्य के बृहत्तम शिखर के नीचे भगवद्-विग्रह का मणिकूट था। मणिकूट में स्थापित थी गरुड़वाहन विष्णु की मूर्ति। लोकप्रवाद है कि यह प्रतापी राजा देवताओं और अपदेवताओं के सम्पर्क में था, और प्रत्येक संध्या को रात्रि का प्रथम याम बिताता था नागकन्याओं के साथ इन शिखरकक्षों के भीतर, जिनके अंगों की मणियों की द्युति से ये शिखरकक्ष बिना दीपक के ही आलोकित रहते थे, और इन नागकन्याओं का कामतोष आवश्यक था देश की उर्वराशक्ति और धान्य श्री की वृद्धि के लिए। परन्तु मेरी धारणा है कि ये नागकन्याएँ या देवकन्याएँ न होकर सामान्य मानुषी कन्याएँ थीं अथवा मन्दिर की देवदासियाँ जो देवताओं के सम्मुख नृत्य करती थीं और फिर देवताओं के अंशावतार राजा के साथ आमोद-प्रमोद करके षड्ऋतुओं की रात्रियाँ यापन करती थीं। अवश्य ही ऊँचे गवाक्षों से विगलित प्रकाश और शान्त रात्रि में झनकते नूपुर स्तोत्रों को सुनकर जनता राजा और नागदेवियों का मिलन समझकर

सारे दृश्य को भक्ति और भय के साथ ग्रहण करती रही होगी और श्रद्धा से इस मानुषी कामलीला को देवताओं की महामुद्रा मानकर प्रणाम भी करती रही होगी। 'अंगकारे थाम' महानगर मन्दिरों का ही एक नगर है और उसके केन्द्र में है प्रसिद्ध अंगकारे श्री बाट का उपर्युक्त महामन्दिर जिसका क्षेत्रफल ५०० एकड़ है। और बाह्य गैलरी का घेरा आधा मील है तथा ऊँचाई है २४० फीट। टोड़, मेनागी, पाख, ताक, 'बलुस्ट्रेड' तथा भित्तिपटों पर असंख्य दृश्य तराशे गये हैं और १७५० अप्सराओं की आदमकद मूर्तियाँ हैं। विस्तार, शक्तिगर्भिता, उदात्तता, बोधगाम्भीर्य, स्वयं विकीरित सम्मोहन, आकृतिगत सन्तुलन, सूक्ष्म प्रस्तर-शिल्प और कारुकला, लालित्य और पवित्रता, इन नौ गुणों से युक्त इस आश्चर्यजनक कृति की महिमा बिना इसे प्रत्यक्ष देखे अनुभूत करना कठिन है।

कम्बोडिया के बाद मीकाङ् नदी प्रवेश करती है कोचीन चीन में जो वीयतनाम का दक्षिणी भाग है। परन्तु प्राक्-कम्बोडिया-इतिहास में यह 'फूनान' (दक्षिण कम्बोज) का ही एक भाग था। यहाँ पर दक्षिण भारतीयों का एक उपनिवेश था। ठीक इसके उत्तर की तरफ था एक उत्तर भारतीय उपनिवेश जिसे 'चम्पा' कहते थे। यहाँ के लोग 'मानख्मेर' (निषाद) नस्ल के ही थे और उन्हें 'चाम्' कहा जाता था। बाद में ये उत्तर वीयतनाम के किरातों में घुल-मिलकर समाप्त हो गये। चम्पा की अमरावती और विजया नगरियों के नाम बदलकर अब 'कांग-नाम' और 'विन्ह दिन्ह' हो गये हैं। तो भी पाण्डुरंग और मिसोन अब भी पुराने नाम धारण करके चल रहे हैं। चीनी इस प्रदेश को 'लिन्-यी' कहते थे। जिसके दो अर्थ होते हैं 'चम्पा का फूल' और 'स्वर्ण-सीमान्त देश'। वस्तुतः मीकाङ् नदी और प्राचीन इतिहास, दोनों दृष्टियों से पूरा हिन्दचीन (कम्बोडिया-लाओस-वीयतनाम) एक ही इकाई है! नदी इस एकता का पूर्ण प्रतीक है। नदी अंशतः चीन और थाईलैण्ड में भी बहती है। तो भी यह नदी मूलतः हिन्दचीन की ही नदी है। इसमें कोचीन चीन तो मीकाङ् का डेल्टा ही है।

मनुष्य का अपना निजी विश्वरूप उसकी कला और संस्कृति के मध्य व्यक्त होता है। मैं भरतमुनि, कुमारस्वामी, हैवेल और रेजिनॉल्ड लग्में के माध्यम से एक दिव्य दृष्टि पाकर इस दक्षिण-पूर्व एशिया की कला और संस्कृति के मध्य भारतवर्ष के विश्व रूप का दर्शन करता हूँ। मैं देख रहा हूँ 'बान-टाईश्री' का मन्दिर और उसकी 'मनौरी' (ललाट-मुकुट) पर अंकित ख्मेर वेशभूषा में तिलोत्तमा नारी और उसके अगल-बगल कामकातर सुन्द और उपसुन्द! अपूर्ण इच्छाओं का एक दुर्गम पर्वत है, उसके ऊपर इच्छाओं का कल्पवृक्ष उगा है जिसके नीचे तिलोत्तमा नारियाँ हैं। जिसकी शाखाओं में मणि-भूषण और वसन लटके हैं जिसके पत्र-पत्र हमारी आकांक्षाओं के लेख हैं और जिसके पुष्प और फल हमारे अप्राप्त दिव्य भाग हैं। उस

वृक्ष के नीचे निरन्तर दो असुरों का मुष्टियुद्ध चालू है जो हमारी ही दमित वासना के ब्रह्म राक्षस हैं। उनके परस्पर मुष्टिप्रहार की चोट से टूटे जबड़े, फूटे मस्तक भी 'मेरे' ही अर्थात् 'मनुष्य' जाति के ही हैं (क्योंकि कला विषय और विषयी दोनों का रूपान्तर विश्वरूप में कर डालती है और कला का कोई भी अनुभव व्यक्तिगत नहीं, साधारणीकृत होता है।) यह तो मनुष्य के इतिहास-व्यापी पतन और जातीय स्तर पर दमित वासनाओं की लीला का संकेत। परन्तु दूसरी ओर एक आस्था और विश्वास से भरा हुआ दृश्य भी उपस्थित होता है। अंगकारे नगर के चारों ओर एक जल-भरी परिखा है जिस पर एक सेतु है और अवरोध-भित्ति की रचना करते हुए समुद्र-मंथन का दृश्य है। वासुकि नाग की रस्सी बनाकर एक ओर देवताओं और दूसरी ओर दानवों की भीमाकार प्रतिमाएँ हैं। ओर से छोर तक, बड़ी ही जीवन्त भंगिमा में बल लगाती हुए, बीस-बीस फुट ऊँची प्रतिमाएँ एक अद्भुत प्रतीकात्मक दृश्य उपस्थित कर देती हैं गोया यह इतिहास में निरन्तर व्यापी शिव और अशिव शक्तियों की परस्पर रस्साकसी हो। विश्व-विजय की कामना और उन्माद से ग्रस्त आसुरी शक्तियाँ निरन्तर सक्रिय हैं और उसी भाँति सक्रिय हैं भगवान् की मंगलमयी शक्तियाँ जो शान्ति, समता, करुणा और मैत्री के मूल्यों पर आधारित हैं। मनुष्य जाति के इतिहास में यह रस्साकसी निरन्तर चालू है। परन्तु अजीब-सी बात यह है कि अपने मजबूत भुजदण्डों, चौड़ी शिलापट्ट-जैसी छातीवाले, क्रूर-भयानक मुखवाले असुरगण निरन्तर हारते हैं और सुन्दर, सौम्य-कान्त कोमल मुखवाले देवता ही निरन्तर जीतते हैं। दानवों के चेहरे पर उत्तेजना, उतावली, हुँकार भरी दुर्मदता और खूनी भाव अंकित हैं, पर देवताओं के चेहरों पर है आत्मविश्वास, शान्ति, तल्लीनता और निर्वेद। ये कोमल-कोमल सौम्यकान्त चेहरे ही अन्त में जीतते हैं। परन्तु कुछ काल बाद एक और आश्चर्य घटित होने लगता है। जीत के बाद कोमल-कान्त चेहरे धीरे-धीरे बदलने लगते हैं, उनकी कोमलता चपटी होने लगती है, उनका किशोर मुख-मण्डल लुप्त हो जाता है और चेहरे पर अधिकार-मुख की द्योतक दाढ़ी-मूंछें जम आती हैं, और तब उन चेहरों में भी वही विकरालता अवतरित होने लगती है जो कभी उनके प्रतिपक्ष में थी। इस प्रकार वे स्वयं प्रतिपक्ष बन जाते हैं और वासुकि नाग की कालमुखी दिशा बदल जाती है और उनके प्रतिकूल नये किशोर चेहरेवाले नये देवता आकर रस्सी के उस छोर को थाम लेते हैं और पुनः नयी शक्ति-परीक्षा आरम्भ हो जाती है! हाँ···हिच्च! हाँ···हिच्च! और तब तिल-तिल-भर, सुई की नोक-भर भूमि कुरुक्षेत्र बन जाती है, पाँखुर तन जाते हैं, मणिबन्ध कड़े और कठोर हो जाते हैं, तथा कलेजे-कलेजे में बैल हुँकड़ने लगते हैं! परन्तु इसका उपसंहार क्या होगा, यह सबको ज्ञात है। सब जानते हैं कि जीतेंगे वे कोमल मुखवाले किशोर ही!

दक्षिण पूर्व एशिया और विशेषत: मीकाङ् घाटी की शिल्प-संस्कृति के मध्य उद्घाटित भारतवर्ष के विश्वरूप का दर्शन करते हुए मैं इतिहास-चक्र की इस लीला का रसास्वादन करता हूँ। अन्त में 'देव-शक्तियों' की जीत होगी, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

(१) मीरा—'मीरा' हिन्दी-जगत् में एक लोकप्रिय नाम है और इसके अर्थ को लेकर काफ़ी खींचतान हुई है। कुछ लोग भ्रमवश अरबी या फारसी 'मीरा' से इसे जोड़ते हैं। परन्तु यह शब्द शकों और कुशाणों की सूर्योपासक संस्कृति का दान है। मूल शब्द है 'मिहिरा'। 'मिहिरा' से 'मीरा' अर्थात् 'सूर्या' या सावित्री या सवितादेवी। कम्बोडिया की पौराणिक अनुश्रुतियों में 'मीरा' नामक अप्सरा के नाम का अर्थ इसी रूप में परम्परागत भाव से ग्रहण किया जाता रहा है। बृहत्तर भारत के साक्ष्य से यही अर्थ प्रामाणिक मानना चाहिए।

चंडीगढ़ : जहाँ सुषमा हँसती है

शंकरदयाल सिंह

यह तीसरी बार चंडीगढ़ आया हूँ। पहली बार आया था तो चंडीगढ़ को एक ग्राम-बाला के रूप में देखा था, दूसरी बार आया तो वह ग्राम-बाला वय:संधि हो गई थी—उसकी अल्हड़ता में कुछ कमी आ गई थी और वह ख्वाबों में तैरती नज़र आई थी और इस बार जब चंडीगढ़ को देख रहा हूँ तो लगता है, मानों वह पूर्ण यौवना हो गई है, अवयवों में कसावट तथा चाल में आलस्यपूर्ण अल्हड़ता। मुझे संतोष हो अगर चंडीगढ़ चिरकुमारी ही रह जाए और इसका यह पूर्ण यौवन सदा बरकरार रह जाए।

पाँवों में घुंघरू की जगह बिछुआ हो। माथे पर मंगलसूत्र की जगह मंगल-घट हो; कानों में बाली की जगह झुमका हो; गले में मोतियों की माला की जगह गेंदे का गजरा हो; नाक में कील की जगह नथिया हो और हाथों में घड़ी हो न हो बाजूबंद हों तो भी सौंदर्य में कोई कमी नहीं आती।

फूल खिलते रहें, कोंपलें फूटती रहें, अमलतास और गुलमोहर गदराते रहें।

यहाँ हर जगह सौरभ है, सुषमा है, पराग है—मगर भौंरे कहीं नहीं हैं। पुरुष और प्रकृति ने एक साथ मिल-जुलकर धरती के इस खंड को सजाया-सँवारा है। यहाँ चप्पे-चप्पे पर इन्द्रधनुष का बिखराव है, रंगीनी है, चहलकदमी है। पेड़ों में फूल हैं, परन्तु उन्हें कोई तोड़ता नहीं और सड़कों-बागों में तितलियों का मँडराव है, लेकिन उन्हें कोई छेड़ता नहीं।

इसीलिए मेरे साथ जो प्रबुद्ध मित्र हैं उनका कहना है कि यहाँ 'सेक्स' की कोई झिझक नहीं है। औरतें-लड़कियाँ उन्मुक्त होकर यहाँ टहलती रहती हैं, अपना सारा काम स्वयं करती रहती हैं। बाजारों में, दुकानों पर, सिनेमा घरों में, बागों में, झील के किनारे—हर जगह उनकी संख्या पुरुषों से कम नहीं है।

दिल्ली या कलकत्ता या बम्बई आदि से चंडीगढ़ की शोभा इतर है। उन

नगरों में जहाँ शोभा दिखावटीपन का एक अंग है, रोज लिपस्टिक, मिनी स्कर्ट आदि जहाँ फैशन को अपनी बाहों में लील बैठे हैं, वहाँ चंडीगढ़ में जो भी है, वह बहुत-कुछ स्वाभाविक है, सत्य है, स्पष्ट है, सीधा है, सरल है। यहाँ गालों की सुषमा अपनी है, और होठों की लाली प्रकृति की देन है। इन्हें आवश्यकता नहीं होती कि ये बाजार-प्रसाधनों से अपने को लावण्यमय बनायें। इनके पास जो भी है, इनका अपना है। सुगठित बाँहें, भरी-भरी आँखें, उठती-गिरती बरौनियाँ, उन्नत भाल, गदराया सौंदर्य-- सब-कुछ इनके पास है। न यहाँ दिखलाने की ललक है, न छिपाने की लज्जा। यौन-भावना यहाँ डाबर का द्राक्षासव नहीं है और न रुचियों की ही व्याधि है।

लज्जा नारी का स्वाभाविक गुण है, सौन्दर्य अभिव्यक्ति का एक सौष्ठव माध्यम भी। वह यहाँ की हर युवती में है। करीने से पहने कपड़े, शील-संकोच और मर्यादित स्त्रीत्व। साथ ही पाँवों में हरिण-शावक-सी थिरकन है और आँखों में खंजन-पक्षी की चपलता।

सेक्टरों में बँटा यह शहर—हर सेक्टर को अपने आपमें पूर्ण करता है। हर सेक्टर का अपना स्कूल है, पुस्तकालय और वाचनालय है, अपना बाजार है, दुकानें हैं, पार्क हैं, और सारी जरूरतें उसी में पूरी हो जाएँ, इसके सब साधन हैं। यों सेक्टर संख्या १७ और २२ सिनेमा घरों और कार्यालयों-बेंकों के कारण अधिक रौनकदार हैं।

लगता है, मानों नारी यहाँ दुर्बलता न होकर शक्ति हो। आँखों से देखता हूँ और देखता रह जाता हूँ। २२ सेक्टर में बस स्टेंड के पास खड़ा हूँ। बगल में ही एक नवयौवना खड़ी है। सँवारे हुए बाल, सिर तक दुपट्टा, आँखों में नींद की खुमारी, वदन पर चमकता हुआ तारों का फूल बिछा कपड़ा--सलवार और कुरता। सामने एक ३५-४० साल के सरदारजी। लड़की की नजर उनकी नजरों से टकराती है, वह भरतनाट्यम की मुद्रा में दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करती है और दूसरी ओर से सरदारजी 'सत सिरी अकाल' कहते हुए लपककर उस नवयौवना को अपनी बाँहों में भर लेते हैं। वह मिलन प्रेमी और प्रेमिका का भी हो सकता है, पति और पत्नी का भी तथा भाई और बहन का भी। कितना स्नेह, सद्भाव, प्यार वहाँ छलकता हुआ दिखाई देता है।

'किरण' सिनेमा के पास खड़ा हूँ। पास ही नजर जाती है तो पाता हूँ एक गदराये सपनों की आभा—-२२-२४ की उमर, दुपट्टे से अपने मुँह को घेरे मानों बादलों के अंदर से झाँकता हुआ चाँद और तीतर के समान उसकी काँपती आँखें। आधी शहरी, आधी देहाती। अपने पाँव पर बल देकर खड़ी है। कमर टेढ़ी हो गई है और उसी कारण कुरते में सलवटें पड़ गई हैं और वह चून बन गई है। और

लगता है मानों सड़क किनारे पेड़ के नीचे किसी कलाकार ने मोनालिसा की प्रस्तर प्रतिमा गढ़ने की कोशिश की हो। सूरत ऐसी जो देखे तो देखता ही रह जाये और आँखें ऐसी जो एक बार टकरा जायें तो फिर बिजली कौंधा दे।

मेरे साथ के मित्र उसी में खो गए हैं और मुझे भी बार-बार अपनी कोहनी से हूलकर उस ओर मुखातिब होने का न्योता दे रहे हैं कि तभी उस चाँद की बगल में धब्बे के समान एक खूसट किस्म का, कुरता-पगड़ी-तहमद में लैस एक लम्बा-चौड़ा-तगड़ा सरदार आकर खड़ा हो जाता है और उस लड़की को साथ लेकर सिनेमा हॉल में चला जाता है। हमें अनायास ऐसा बोध होता है मानों सिनेमा का डाकू किसी इस्मतदार 'तरुणी' का अपहरण कर ले गया हो। हालाँकि जिस अधिकार, साफगोई और अदा के साथ करीने से सटाये वह ले गया उससे साफ जाहिर था कि दोनों पति-पत्नी हैं। और यह सरदारों की किस्मत की बड़ी बात हैं कि दाढ़ी, मूंछ और केशों के बावजूद उन्हें सेमल के फूलों-सी गुदगुदी का साथ-सहयोग बराबर मिल जाता है। मेरे मित्र का मूड इस 'अपहरण कांड' से 'ऑफ' हो जाता है और हम आगे बढ़ जाते हैं।

दो दिनों से चंडीगढ़ आया था, मगर रहना पड़ा पाँच दिन। अत: निश्चय किया कि महँगे होटल को छोड़कर किसी सस्ती जगह की तलाश की जाए और इसी जानकारी के लिए 'टूरिस्ट कार्यालय' पहुँचा और वहाँ से सूचना प्राप्त कर 'धर्मशाला' गया।

धर्मशाला के द्वार पर जो मुनीमजी बैठे मिले, उन्हें देखकर मन में भय, जुगुप्सा और हास्य, तीनों का संचार एक साथ हुआ। ढीला-ढाला कुरता, चौड़ी मोहरी का पाजामा, सिर पर गोल टोपी, नाक पर मोटे शीशेवाला चश्मा, सामने मोटी-सी बही और हाथ में पचास-साठ पैसेवाली एक कलम। देखते ही पहले झटके में ऐसा लगा मानों 'चित्रगुप्त महाराज' जन्म-मरण का लेखा-जोखा लिखने बैठे हों। उनसे मेरी आँखें जब चार हुई तो उन्होंने मेरी ओर वैसे ही ताका जैसे सुरसा ने पहली बार हनुमान को देखा होगा।

खैर, वक्त पड़ने पर गधे को भी बाप कहना पड़ता है. इसलिए मैंने भी बड़े अदब के साथ मुनीमजी को झुककर नमस्कार किया।

मुनीमजी किसी सिनेमा के ऐसे माहिर मुनीम के समान लगते थे, जो आतंक पैदा करने के लिए ही पार्ट में रखे जाते हैं। मैंने अपना आशय कहा तो मुनीमजी ने मेरी ओर चश्मे का लैंस ऐसे किया जैसे कोई मुजरिम बहुत दिनों के बाद पकड़कर थानेदार के सामने लाया गया हो और वह एकनजर में अपना सारा गुस्सा उस पर निकाल लेना चाहता हो। मुनीम की आँखें मेरी आँखों में वैसे ही गड़ गई जैसे किसी खरगोश की ओर सधे शिकारी की दुनाली बंदूक। सवाल-जवाब शुरू हुए।

पूरा हुलिया और जन्मकुंडली जान लेने के बाद मुनीम को मेरे शरीफ होने में शक नहीं रह गया तो उसने रजिस्टर निकालकर फिर मुझसे एक बार सारे सवाल दुहराये, नाम दर्ज किया और एक कमरा दे दिया। भगवान् का शुक्र था कि उसने मुझे एक कमरा दे दिया, वरना मेरे ही सामने पाँच-सात लोगों को उसने टका-सा जवाब दे दिया था और मुझे भी जब तक कमरा नहीं मिला था, ऐसा लगता था मानों किसी भी क्षण यह सिनेमा का जीव, ओम्प्रकाश या कन्हैयालाल, मुझे गेट का रास्ता दिखा सकता है।

सूद-धर्मशाला नाम की ही धर्मशाला है। जो कमरा यहाँ नाममात्र के पैसों से दिया जाता है उसमें एक पलंग, स्नानघर और शौचालय संलग्न, पंखा, टेबल तथा कुर्सी सब सुविधाएँ रहती हैं और इस प्रकार की सुविधा से युक्त कमरा ३०-४० रुपये से कम में किसी होटल में मिलना सम्भव नहीं है।

चंडीगढ़ के प्राकृतिक भूगोल से इसका राजनीतिक नक्शा इस समय विचित्र है। भारत में यह एक ऐसी जगह है जो एक साथ दो-दो प्रान्तों की राजधानी है, यहाँ दो राज्यपाल हैं, दो मुख्य मंत्री हैं, दो सचिवालय हैं, दो विधानसभाएँ हैं तथा शासनसूत्र की हर इकाई दो में विभाजित है। परन्तु चंडीगढ़ भी इस माने में खूब है कि हरियाणा और पंजाब की राजधानी होते हुए भी दोनों में से किसी का भी अधिकार उसके शासन पर नहीं है। उसका शासन केन्द्रीय सरकार के हाथों में है। इसीलिए बसों एवं अन्यत्र 'टेरिटोरियल यूनियन' के साइनबोर्ड लगे हुए हैं।

यहीं कहीं अगल-बगल कुरुक्षेत्र का मैदान है, जहाँ कभी किसी जमाने में कौरव और पाण्डव आपस में जूझे थे, भाई-भाई की लड़ाई में अठारह क्षौहिणी सेना ने बलिदान दिया था। कारण क्या था—बिना लड़े सुई की नोक के बराबर जमीन नहीं दे सकता, दुर्योधन ने कहा था और इसीलिए पाँच गाँवों पर संतोष करनेवाले पाण्डवों को रणक्षेत्र में आना पड़ा।

यह सदियों पहले की कथा है। मुझे विश्वास है कि पंजाब या हरियाणा दोनों दो होते हुए भी एक हैं। दोनों में न कोई कौरव है, न पाण्डव। अतः उनमें से कोई भी इतिहास के इस कटु-सत्य की पुनरावृत्ति नहीं करेगा।

चंडीगढ़ में पहले २६ सेक्टर थे, अब सेक्टरों की संख्या में दिनों-दिन वृद्धि हो रही है। विकास के लिए भरपूर धरती है और बनानेवालों ने चंडीगढ़ का नक्शा कुछ ऐसा सोच-समझकर बनाया है कि चंडीगढ़ जितना है उससे चौगुना-दसगुना भी हो जाएगा, तब भी उसकी खूबसूरती नष्ट न होगी और सँकरी हवा नहीं चलेगी। यहाँ बननेवाला हर मकान काफी सोच-समझकर बनाया जाता है और उसके नक्शे पर कड़ी निगरानी और चौकसी रहती है।

चंडीगढ़ का कोई इतिहास नहीं है, जो-कुछ भी है वह इसका भूगोल है।

आजाद भारत की यह एक बड़ी उपलब्धि है। यहाँ दर्शनीय स्थानों की कमी नहीं है, झील है एक ही मगर इतनी विस्तृत और मन को मोह लेनेवाली कि पूरा चडीगढ़ उसके किनारे खड़ा हो सकता है। विश्वविद्यालय और मेडिकल कॉलेज, शिक्षा और अन्वेषण के मात्र केन्द्र न होकर स्वस्थ इकाई हैं। जगह-जगह झुरमुटों की शोभा, लताओं की टोली, फूलों का जमाव, कलियों का बिखराव और प्रकृति-पुरुष की उन्मुक्तता है।

चंडीगढ़ में कहाँ बाग है और कहाँ फूल यह कहना कठिन है। हर जगह उद्यान हैं, हर जगह पेड़ हैं, हर जगह फूल हैं, हर जगह चहलकदमी है। लगता है जैसे यहाँ का चप्पा-चप्पा निशात और शालीमार है, यहाँ की गली-गली अनारकली और हजरतगंज है, यहाँ का हर वासी हीर और रांझा है। लगता है जैसे यहाँ का कोई आदमी किसी के आगे झुकता नहीं, वह इस्पात का बना है, टूट जाए तो टूट जाए, मुड़ता नहीं। यहाँ का हर आदमी जैसे पोरस की यादगार हो—विजयी सिकन्दर ने पराजित पोरस से पूछा, "तुम्हारे साथ कैसा बरताव किया जाए ?"

"जैसा एक सम्राट दूसरे सम्राट के साथ करता है।" माथे पर बिना शिकन लाये पोरस ने जवाब दिया और विजयी सिकन्दर भी उसकी दृढ़ता से पराजित हो गया। यह कहानी इसी परिवेश के आसपास की है।

सदियाँ बीत गई हैं, चिनाब और रावी और व्यास और सतलुज में कितना पानी आया और गया, भारत-विभाजन के बाद पंजाब के दो टुकड़े हुए, उसके बाद पंजाब के तीन हिस्से बने—हरियाणा, पंजाब और हिमाचल प्रदेश—पर न यहाँ की धरती बदली है, न यहाँ का आसमान बदला है और न यहाँ की जमीन ही बदली है।

चंडीगढ़ बस रहा है और आनेवाली सदियों तक बसता चला जायेगा। महान् वास्तुकार कार्बूज़िए ने एक सपना देखा था, और उस सपने को सिद्धि प्रदान की महान कल्पनाशील राजनीतिज्ञ जवाहरलाल नेहरू ने। आज चंडीगढ़ खड़ा हँस रहा है—उसके पार्श्व में हैं शिवालक की पहाड़ियाँ और यहाँ तक सीधी चली आती हैं शिमला की बर्फानी हवा—कुछ गुनगुनाते, कुछ गुदगुदाते हुए।

जवाहरलाल ने चंडीगढ़ की शुरुआत करते हुए ठीक ही कहा था—तुम लाहौर की याद को भुलाना चाहते थे, तो लो यह चंडीगढ़। इसके सामने दुनिया की बड़ी-बड़ी राजधानियाँ अपना सिर झुका लेंगी।

वास्तव में भारत देखनेवाला काशी और प्रयाग देख ले, कलकत्ता और बम्बई देख ले, जयपुर और बंगलौर देख ले किन्तु यदि चंडीगढ़ न देखे तो पूरे भारत का दर्शन नहीं हो सकता। चंडीगढ़ आजादी के बाद का एक सफल सपना है, जिसका नाम सांस्कृतिक, धार्मिक, पुराणों, काव्यों में नहीं है, लेकिन आज देश के नक्शे का वह महत्त्वपूर्ण अंश है—जहाँ सुषमा हँसती है : सौंदर्य बिखरता है।

पंचवटी

नरेन्द्र कोहली

चलते-चलते एक लंबा काल बीत गया था।

गुरु अगस्त्य के आश्रम को छोड़ने के पश्चात् मार्ग एक-सा नहीं रहा था। कहीं वन सघन हो जाता था और कहीं सूरजमुखी के पुष्प सहस्रों की संख्या में खिले दिखाई पड़ते थे। कहीं साबर की काँटेदार झाड़ियाँ, लंबे-ऊँचे मनुष्य की ऊँचाई के बराबर उठी खड़ी थीं और कहीं चापा के छोटे श्वेत पुष्प मुस्कराते दिखाई पड़ते थे। सामान्यत:, पीपल, गूलर, आम तथा वट के वृक्षों की संख्या पर्याप्त थी और ऐसे भी चट्टानी क्षेत्र थे जहाँ ऊँचा पेड़ एक भी नहीं था और गवद से ही भूमि ढकी हुई थी।

वे मार्ग में रुकते-रुकते ही चले थे, किन्तु गोदावरी के उद्गम के पास पर्वत के ऊपर उनका पड़ाव कुछ दीर्घकालीन हो गया था। सीधे ऊँचे पर्वत के ऊपर भूमि से फूटते स्रोत के पास एकांतवास के लिए सुन्दर स्थान था। पर्वत पर खड़े होकर देखा जाए तो नीचे का क्षेत्र वृत्ताकार पर्वतों से घिरा हुआ एक पात्र दिखाई पड़ता था, जिसमें गोदावरी के जल से भरे हुए निर्मल जल के दो जलाशय थे।

प्रकृति की मनोरमता को देख-देखकर सीता जितनी मुग्ध होती थीं, मुखर उतना ही गद्गद हो जाता था। वह जैसे बहुत दिनों के पश्चात् अपने घर में लौट आया था। एक-एक वस्तु के विषय में विस्तार से बताता चलता था। उसकी रुचि वहाँ की एक-एक शिला, एक-एक झाड़ी तथा एक-एक जलकण में थी। मुखर इतना प्रसन्न पहले कभी दिखाई नहीं पड़ा था।

राम अधिक देर तक इस प्रकार के अलग-थलग स्थान पर बसने के पक्ष में नहीं थे। इससे उनका सब ओर से संपर्क टूट जाने का भय था। उनकी इच्छा थी कि पंचवटी पहुँचकर ही, ठहरने की बात सोची जाए। अब पंचवटी बहुत दूर भी नहीं थी—मुखर के अनुसार दस-बारह कोस से अधिक की दूरी नहीं थी।

पिछली घड़ी-भर से राम को निरंतर लग रहा था कि कोई व्यक्ति ढूहों के पीछे-पीछे उनके साथ चल रहा था। जाने कब से वह व्यक्ति उन पर दृष्टि लगाए हुए था। कदाचित् वह उनकी गतिविधि के विषय में जानकारी चाहता था।

राम ने एक टीले के पास रुकने का संकेत किया।

शेष लोगों ने उन्हें प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा। पिछले पड़ाव के पश्चात् चलते हुए इतनी देर तो नहीं हुई थी कि वे थक गए हों। फिर भी सब के पग थम गए।

वे लोग इस प्रकार बैठ गए, जैसे देर तक सुस्ताने का विचार हो। साथ आए अगस्त्य-शिष्यों में से एक उन्हें बता रहा था, "आर्य ! यहाँ की धरती शाक-भाजी के लिए बहुत उपजाऊ है। जहाँ-जहाँ खेती का प्रयत्न किया गया, वहाँ अन्न भी पर्याप्त होता है। फल विशेष नहीं होते। जाने मिट्टी में ही कोई दोष है अथवा राक्षसों के आतंक के मारे कभी गंभीरतापूर्वक प्रयत्न ही नहीं किया गया।···"

राम की दृष्टि निरंतर, टीले के पीछेवाले अस्तित्व की ओर लगी हुई थी; उनके कान मानों उसकी साँस तक की ध्वनि सुन रहे थे और नाक उसकी गंध सूंघ रही थी। उन्होंने अपने संकेतों से अन्य लोगों को भी आभास दे दिया था कि उन्हें टीले के पीछे किसी के छिपे होने का संदेह है।···बातें करते हुए थोड़ा समय बीत गया, और उन्हें लगा कि अब तक वह व्यक्ति, बातें सुनने के लिए टीले के पीछे, निकटतम दूरी तक आ गया होगा, तो उन्होंने लक्ष्मण और मुखर को संकेत किया। वे दोनों इतनी स्फूर्ति से दो दिशाओं से टीले के पीछे की ओर झपटे कि वह व्यक्ति न तो भाग पाया, और न स्वयं को छिपा ही पाया।

वे उसे लेकर सामने आये, तो राम ने देखा एक साधारण वृद्ध उनके सामने खड़ा था; किन्तु उसके शरीर की पेशियाँ घोषणा कर रही थीं कि वह शरीर किसी समय पर्याप्त बलिष्ठ रहा होगा···उसके शरीर पर, मात्र एक वस्त्र था, किन्तु साथ ही एक खड्ग भी···

"आप कौन हैं?" राम ने पूछा।

"तुम लोग कौन हो ?" वह उग्र स्वर में बोला, "मैंने तुम्हें यहाँ पहले कभी नहीं देखा।"

राम शांत भाव से मुस्कराए। सामने खड़ा व्यक्ति वृद्ध चाहे हो, किन्तु तेजस्वी था। उसमें साहस तथा निर्भयता थी। निश्चित रूप से वह किसी दुर्भावना से उनकी चौकसी नहीं कर रहा था।

"मैं अयोध्या के चक्रवर्ती दशरथ का पुत्र हूँ···राम।"

वृद्ध के चेहरे पर सुखद विस्मय का भाव उदित हुआ।

"यह मेरा भाई सौमित्र है।" राम ने परिचय आगे बढ़ाया, "यह मेरी पत्नी

वैदेही सीता है; तथा यह हमारा मित्र एवं सहयोगी मुखर है। ब्रह्मचारीगण, गुरु अगस्त्य के आश्रम से हमारी सहायता के लिए साथ आये हैं।···कृपया आप भी अपना परिचय दें।"

"आप यहाँ क्या कर रहे हैं ?" वृद्ध ने अपना परिचय नहीं दिया, किन्तु इस बार उसके स्वर में उग्रता नहीं थी।

"हम पिता के वचन की रक्षा के लिए चौदह वर्षों का वनवास कर रहे हैं।" राम बोले, "और गुरु अगस्त्य के निर्देश पर पंचवटी में निवास करने आये हैं···।"

"अगस्त्य !" वृद्ध कुछ सोचता हुआ बोला, "अगस्त्य ने तुम्हें भेजा है, तो अकारण नहीं भेजा होगा। तुम जानते हो राम, यहाँ से थोड़ी दूर पर गोदावरी है, और उसके पार जनस्थान है; जहाँ राक्षसों ने अपना विशाल सैनिक स्कंधावार बना रखा है। वहाँ एक बड़े राज्य की रक्षा के लिए पर्याप्त सेना है···।"

"हमें इससे क्या प्रयोजन कि वहाँ क्या-क्या है ?" लक्ष्मण बोले।

"किन्तु मुझे है।" वृद्ध का स्वर पुनः तीखा हो गया, "तुम दशरथ के पुत्र हो और मैं किसी समय का दशरथ का मित्र हूँ—गृध्र जटायु। मैं और दशरथ, शंबर-युद्ध में एक ही पक्ष में लड़े थे।···तब मेरी स्थिति यह नहीं थी।" जटायु ने अपने शरीर की ओर इंगित किया।

"ओह ! आप हैं तात जटायु !" राम बोले, "आप यहाँ क्या कर रहे हैं ?"

जटायु आकर उनके पास बैठ गए, "यह मेरा प्रदेश है। मेरा गोत्र यहीं रहता था। किसी समय हमारा गोत्र भी समृद्ध था। अनेक गाँव थे; कुछ आश्रम भी थे, जहाँ हमारे बच्चे शिक्षा पाते थे। किन्तु, इन राक्षसों के मारे कुछ नहीं बचा। उन्होंने आश्रम नष्ट कर दिए। ग्राम उजाड़ डाले। भूमि छीन ली। कुछ लोग मर-खप गए; और कुछ वन में इधर-उधर विलीन हो गये। मैं तब से ही खड्ग बाँधे फिरता हूँ। सामान्यतः लोग मुझे सनकी बूढ़ा समझकर मेरे पास नहीं फटकते; किन्तु जब कहीं राक्षसों का अत्याचार बहुत बढ़ जाता है, और दो-चार दिल-जले युवक, प्राण हथेली पर लिये उनका विरोध करने के लिए उठते हैं, तो मेरे पास आ जाते हैं। राक्षसों से निरंतर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष झड़पें होती रहती हैं। तीन दिन पहले, राक्षसों की एक टोली ने हमारे कुटीर जला दिये थे। दो साथी मारे गए, तीन भाग गए। तब से अकेला भटक रहा हूँ। तुम लोगों को देख रहा था कि यहाँ क्यों आए हो ? तपस्वी वेश देखकर समझ गया था कि राक्षस नहीं हो। साथ में बहू वैदेही भी थी, इससे मनमें बार-बार प्रश्न उठता था कि कौन लोग हो और यहाँ क्या कर रहे हो ?···किन्तु ऋषि जानते हैं कि यहाँ कितना संकट है, फिर उन्होंने तुम्हें यहाँ क्यों भेजा है ?"

"क्योंकि यहाँ संकट है," राम मुस्कराए, "और संकट से लड़ना हमारा काम है।"

जटायु ने राम को मुग्ध दृष्टि से देखा, "तुम मुझे दशरथ से भी बड़े योद्धा प्रतीत होते हो। तुम लोग यहाँ रहोगे, तो मैं भी कुछ दिनों तक टिककर एक स्थान पर रह सकूंगा।"

"तात जटायु!" राम आश्वस्त स्वर में बोले, "हम काफी समय तक यहाँ रहेंगे। आप भी हमारे साथ रहें। अपने पीड़ित संगी-साथियों को भी बुला लें। आप जैसा योद्धा हमारे साथ होगा, तो हमें भी सुविधा रहेगी। अब राक्षसों के भय से भागते-फिरने की आवश्यकता नहीं है।...हमें बताइए कि हम अपना आश्रम कहाँ बनाएँ?"

जटायु को सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ी, "जहाँ इन दिनों मेरी कुटिया है, उसके पास का स्थान बहुत सुन्दर और सुविधाजनक है। तुम लोग उसके पास ही अपना आश्रम बना लो।"

जटायु उठ खड़े हुए, "आओ! तुम्हें दिखाऊँ।"

क्षण-भर में चलने की तैयारी हो गई। सबने अपनी क्षमता तथा शक्ति के अनुसार शस्त्र उठा लिए। जटायु भी उठाने के लिये झुके, तो राम ने टोक दिया, "आप रहने दें तात्! हमारे आगे-आगे चलें और मार्ग दिखाएँ।"

"अभी इतना अक्षम नहीं हूँ राम!" जटायु मुस्कराए।

"प्रश्न क्षमता का नहीं, आवश्यकता का है।" राम भी मुस्कराए।

वे लोग जटायु के पीछे-पीछे चल पड़े। मुखर विशेष प्रसन्नता तथा उत्साह से चल रहा था। वह राम, सीता और लक्ष्मण से कुछ आगे बढ़कर, जटायु के साथ-साथ, विभिन्न स्थानों तथा वनस्पतियों के विषय में टिप्पणियाँ करता हुआ चल रहा था।

"तुम इस क्षेत्र से पर्याप्त परिचित लगते हो वत्स!" जटायु बोले, "और इस परिवेश में विशेष उल्लसित भी।"

"आपने ठीक कहा आर्य!" मुखर अपनी प्रसन्नता छिपा नहीं पाया, "मेरा ग्राम कुछ और दक्षिण-पश्चिम में समुद्र के तट पर था। इसी खर के सैनिकों ने मेरा घर भी उजाड़ा था, और परिवार भी। मैं यहाँ से भागकर ऋषि वाल्मीकि के आश्रम तक चला गया था। वहीं भद्र राम से भेंट हुई और तब से उनके साथ हूँ। पिछले कुछ दिनों से लग रहा है कि अपने घर लौट आया हूँ। फिर आपने यह भी बताया है कि गोदावरी के उस पार, राक्षसों का सैनिक स्कंधावार भी है। कभी-न-कभी उनसे टक्कर भी होगी ही; तब मैं अपने परिवार पर हुए अत्याचारों का प्रतिशोध ले सकूंगा।"

"मेरी भी राक्षसों से बहुत दिनों से लड़ाई चल रही है; किन्तु प्रत्येक झड़प के पश्चात् मैं अकेला पड़ जाता हूँ तथा इधर-उधर छिपता फिरता हूँ।" जटायु बोले, "तुम तो इतने निश्चिंत लग रहे हो, जैसे राक्षसों से टक्कर, कोई बहुत सुखद घटना होने जा रही है।"

मुखर कुछ क्षण चुपचाप जटायु को देखता रहा, फिर बोला, "तात! छोटे मुँह बड़ी बात न मानें तो कहूँ कि राक्षसों के साथ युद्ध, निश्चित रूप से सुखद घटना होगी। राम की क्षमता और कार्य-पद्धति अद्भुत है। जिधर जाते हैं, जन-सामान्य जागकर उठ खड़ा होता है और जाग्रत जन को पराजित करना असंभव है। मैंने आज तक राम को पराजित होते नहीं देखा।"

"तुम्हारी वाणी सत्य हो पुत्र!" जटायु पुलकित-से बोले, "मैंने इन राक्षसों के हाथों अब तक लोगों को पीड़ित होकर मरते अथवा भागते ही देखा है।"

जटायु एक टीले के नीचे जाकर रुक गए।

अन्य लोग साथ आ मिले तो वे बोले, "राम! मेरी दृष्टि में यह यहाँ का सबसे सुन्दर तथा सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है; विशेष रूप से गुप्त युद्ध के लिए। इस टीले के चारों ओर ढूह हैं, जिनके पीछे छिपकर युद्ध किया जा सकता है। सामने के वन के पीछे गोदावरी है। बाईं ओर कपिल गंगा की धारा है। आगे इन दोनों का संगम है। यह संगम हमारे लिए प्राकृतिक सीमा है।...और सुन्दर तो यह स्थान है ही।"

"बहुत सुन्दर स्थान है। मेरा मन तो इसी टीले के ऊपर आश्रम बनाने का हो रहा है।" सीता बोलीं, "आश्चर्य है कि इतने सुन्दर स्थान पर अभी तक कोई आश्रम क्यों नहीं बना।"

"यहाँ अनेक आश्रम थे वैदेही!" जटायु धीरे से बोले, "कपिल का, गौतम का...कुछ अन्य ऋषियों का भी। वस्तुतः किसी समय इस स्थान को तपोवन ही कहा जाता था। किन्तु खर-दूषण के सैनिकों ने, उनमें से एक भी नहीं रहने दिया।

"यह तो अपने-आप में ही प्राकृतिक गढ़ है।" लक्ष्मण ने अपने निरीक्षण के पश्चात् अपना निष्कर्ष बताया।

"आप अद्भुत हैं तात जटायु!" राम मुस्कराए, "सब सहमत हैं कि यही स्थान उपयुक्त है।"

राम टीले के ऊपर चढ़ गए। वहाँ से सारा क्षेत्र, किसी मानचित्र के समान दिखाई पड़ रहा था। ढूहों तथा टीलों के नीचे विरल वन था, जिसमें अनेक वट तथा पीपल के वृक्ष दिखाई पड़ रहे थे। कदाचित् इन्हीं में कहीं पाँच वट इकट्ठे होंगे, जिसके कारण इस स्थान का नाम किसी ने पंचवटी रख दिया होगा। वन के वृक्षों

के उस पार कहीं-कहीं गोदावरी की धारा दिखाई पड़ रही थी। जल बहुत अधिक नहीं था। शिलाओं से टकराता जल बड़े वेग से बह रहा था। इन शिलाओं के कारण, इस स्थान पर नौका-चालन संभव नहीं था। बाईं ओर से कपिल गंगा की धारा आकर मिल रही थी···वर्षा में जब गोदावरी भर जाती होगी, तो निश्चित रूप से जल इन टीलों के नीचे तक आ जाता होगा···यहाँ से गोदावरी न तो अति निकट थी और न ही दूर···इसके पार कहीं जनस्थान था, राक्षसों का सैनिक-स्कंधावार···।

राम ने अपने हाथों में पकड़े खड्ग और धनुष भूमि पर रख दिए। कंधों पर टँगे तूणीर भी उन्होंने उतार दिए। शेष लोगों ने भी शस्त्र भूमि पर, वृक्षों के तनों के साथ टिका दिए।

अगले ही क्षण सबके हाथों में कुल्हाड़ियाँ और कुदाल आ गए। तीव्र गति से कार्य होने लगा। वृक्षों की शाखाएँ कट-कटकर नीचे गिरने लगीं। शाखाओं के पत्ते उतारे गये और सुन्दर तथा दृढ़ कुटीर आकार लेने लगे।

जटायु एक वृक्ष की छाया में बैठे, उन लोगों का कौशल देख रहे थे। राम, लक्ष्मण और सीता में राज-परिवारवाली कोई कोमलता दिखाई नहीं पड़ रही थी। वे साधारण वनवासियों के समान कार्य कर रहे थे--हाँ, उनकी दक्षता अवश्य असाधारण थी। यह सब उनके दीर्घकालीन वनवास का ही फल हो सकता है। ये लोग कब से वन में रह रहे हैं?···विशेष रूप से सीता को देखकर आश्चर्य हो रहा था कि उसने कैसे स्वयं को इस जीवन के अनुकूल बनाया होगा?···

जटायु की आँखों के सामने कुटीर आकार लेते चले गए···बीच में भोजन के समय थोड़ी देर के लिए कार्य रुका था; पर भोजन के पश्चात् कर्म में पुनः गति आ गई। ऋतु ऐसी शीतल नहीं थी कि रात बिना कुटीर के न बिताई जा सके, फिर भी वे लोग अपनी तीव्रगामिता के बल पर संध्या तक अपनी आवश्यकता के अनुसार कुटीर बना लेंगे--ऐसा अनुमान किया जा सकता था।···लक्ष्मण तो इस सहजता से कुटीर बना रहे थे, जैसे जीवन-भर यही कार्य करते रहे हों।

···सहसा जटायु का ध्यान उनके शस्त्रों की ओर गया : कदाचित् शस्त्रों की सुरक्षा के लिए उन्हें कुटीरों की तत्काल आवश्यकता थी। किंतु, यदि राक्षसों को सूचना मिल गई तो वे आकर उनके शस्त्र छीनकर ले जाएंगे। शस्त्रों के लिए इन्हें अधिक सावधान···सावधान तो इन्हें सीता के लिए भी रहना चाहिए।···गाँव की किसी किशोरी के रूप की तनिक भी चर्चा होती है, तो राक्षस उसका अपहरण कर ले जाते हैं; और सीता का रूप···।···जटायु की दृष्टि राम के शरीर पर जा टिकी। ऐसा बलिष्ठ शरीर और ये शस्त्रास्त्र तथा दिव्यास्त्र···कदाचित् सीता के लिए संकट नहीं है···यदि संकट होता तो अगस्त्य, राम को चाहे भेज देते परंतु

सीता को यहाँ कभी न आने देते···।

और मुखर कैसा प्रसन्न है, राम के साथ। जैसे राम का सगा बंधु हो।···जटायु ने सदा यही तो चाहा है कि प्रत्येक साधारण जन इसी प्रकार मुक्त, सुखी, समता तथा सम्मानयुक्त हो···पता नहीं जटायु का स्वप्न कब पूरा होगा, कभी पूरा होगा भी या नहीं···।

संध्या तक पाँच कुटीर बन गये थे। अभी उनमें कुछ कार्य शेष था, किंतु उनका उपयोग किया जा सकता था। बीच के कुटीर में शस्त्रास्त्र रखे गये थे और उसके एक ओर का कुटीर राम तथा सीता का और दूसरी ओर का लक्ष्मण का था। लक्ष्मण के साथवाला कुटीर मुखर का तथा पाँचवाँ कुटीर अतिथिशाला था।

"आश्रम बन गया ?" जटायु ने पूछा।

"आज के लिए तो बन ही गया समझिए।" लक्ष्मण बोले, "शेष काम थोड़ा-थोड़ा कर, होता रहेगा।

वे लोग शस्त्रागार के सम्मुख वृत्त-सा बनाकर बैठ गए और दोपहर के बचे हुए फलों का भोजन करने लगे।

"आर्य जटायु !" राम बोले, "रात्रि के समय सुरक्षा-असुरक्षा की क्या स्थिति है ?"

"जनस्थान में राक्षस सैनिकों का स्कंधावार है।" जटायु बोले, 'और चारों ओर विरोधी प्रजा की बस्तियाँ। इक्का-दुक्का राक्षस कम ही निकलता है। वे जब निकलते हैं तो टोली में निकलते हैं। वह भी रात के समय चोरी-छिपे नहीं, दिन के समय प्रकटरूप से शस्त्रबद्ध होकर। यदि संयोग से अकेले राक्षस का किसी से झगड़ा हो जाये, तो वह चुपचाप लौट जाता है, और फिर अपनी टोली लेकर आता है। छोटी टोली पराजित हो जाये, तो बड़ी टोली आती है···।"

"छोटी टोली की पराजय का क्या अर्थ हुआ ?" लक्ष्मण ने पूछा।

"राक्षसों के चार-पांच सैनिक हों तो कभी-कभी, जटायु के प्रशिक्षित युवक उन्हें घेर-घारकर पीट देते हैं। बहुत न सही" जटायु मुस्कराए, "इक्का-दुक्का राक्षस सैनिक इस क्षेत्र में जटायु का आतंक मानता है।"

"अर्थात् भूमिका तैयार है।" मुखर हंसा।

"इसका अर्थ यह भी हुआ कि रात को आप लोग पूरी नींद सो सकेंगे।" लक्ष्मण बोले, "विशेषकर ब्रह्मचारी बंधु।"

"हाँ।" राम कुछ सोच रहे थे, "हमें रात को जल्दी सो जाना चाहिए। प्रातः ब्रह्मचारी मित्र विदा होंगे। और भूलना मत मित्रो !" राम ब्रह्मचारियों से संबोधित हुए, "गुरु अगस्त्य से कहना कि वे सुतीक्ष्ण, शरभंग, आनन्दसागर, धर्मभृत्य, अग्निजिह्व—सभी आश्रमों में हमारे स्थान की सचना, तुम्हारे पहुँचते ही भिजवा दें।

संपर्क शीघ्र स्थापित होना चाहिए।···और हमारे शेष शस्त्र भी वे क्रमशः भिजवाते रहें···।"

"अच्छा राम !" जटायु बोले, "एक प्रश्न मुझे पूछना है। संकोच मत करना, अपना स्पष्ट मत देना।"

राम ने जटायु की ओर प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा।

"एक युवक है, जो योद्धा नहीं है, शस्त्रों का ज्ञान भी उसे नहीं है, किंतु शरीर से हृष्ट-पुष्ट है। वह जनस्थान में शूर्पणखा के प्रासाद में माली का काम करता था। कुछ कारणों से शूर्पणखा ने उसे यातना देनी आरम्भ कर दी। वह वहाँ से भाग आया है। लौटकर वह प्रासाद में जा नहीं सकता। शूर्पणखा के भय से कोई व्यक्ति उसे आश्रय देने को तैयार नहीं है। हिंस्र पशुओं द्वारा खदेड़े गए मेमने के समान, वह वन में इधर-से-उधर छिपता फिर रहा है। बताओ, उसका उद्धार कैसे होगा ?"

"प्रश्न यह है कि वह चाहता क्या है ?" राम बोले।

"क्या चाहेगा ? सुरक्षा, ईमानदारी की आजीविका और सम्मानपूर्ण जीवन।"

"उससे कहिए कि वह हमारे पास आ जाए।" राम बोले, "राक्षसों से बहुत भयभीत हो तो, हमारे आश्रम में कुटीर बना ले, अन्यथा किसी भी ढूह पर कुटिया बना ले। यह सारा क्षेत्र अब सुरक्षित है।" राम मुस्कराए, "कोई गृहस्थ उसे अपने साथ रखना चाहता हो, किन्तु राक्षसों के भय से रख न पाता हो तो उससे कहिए, वह उस युवक को आश्रय दे दे। भय का अब कोई कारण नहीं है।"

जटायु आश्चर्य से राम को देख रहे थे : राम के चेहरे पर न अहंकार था, न गर्व; वहाँ एक दायित्वपूर्ण, गंभीर आत्मविश्वास था।

(अप्रकाशित उपन्यास 'संघर्ष की ओर' का एक अंश)

सिद्धार्थ

डॉ० सतेन्द्र नन्दन

मौत बढ़ती आती है,
दिन दिन, तिल तिल,
खामोशियों के बीच—
खून की बूंदों में !
हमने नहीं चाहा,
फिर भी हाइबिस्कस खिलता है;
यह संसार माया है !
और उसकी कृपा से हम जीते हैं—
इस क्षण, अनेक क्षण ।
डूबते सूरज की किरणें,
समुद्र में बिखरती हैं,
और साँझ का उतरता अँधियारा,
एक दूसरे आकाश में,
भोर बन चमकता है ।
मेरे पिता मर रहे हैं;
नहीं, मैं नहीं ।
दुःख के धागों से बँधे,
इस जीवन-अंकुर को,
कौन कोख धारण करेगी ?
धरती,
हाँ, धरती माता,
पहली माता, अन्तिम माता ।

इस शरीर जैसी कोई पीर नहीं,
न ही कोई जिन्दगी—
इस मृत्यु जैसी—सब प्राणियों की नियति,
अनन्तता का एकमात्र द्वार :
अर्जुन ने देखा था,
कृष्ण के विशाल रूप में,
आत्मा का आणविक-विस्फोट;
अन्धकार में या प्रकाश में ?
मैं नहीं जानता और मरनेवाला बताएगा नहीं।
पलकें फड़फड़ाती हैं :
घायल पहाड़ियों और टूटे पेड़ों पर,
उभरती आकृतियाँ,
रथ के पहिये के पीछे,
पुरुष और स्त्रियाँ,
चमकते हैं, यादों के जुगनू से,
कुरुक्षेत्र के सूरज की,
अन्तिम किरणों में !
आँसू की एक बूंद,
बन्द कर देती है तीसरी आँख;
लेकिन, साथ ही,
बरसते पानी की बूंदों से,
समुद्र हो जाता है बूंद-बूंद।
अब कोई नहीं है दु:ख।
ओम शान्तिः शान्तिः !

"लहरें कुछ भी नहीं,
केवल पानी,
और समुद्र भी तो !"

(२)

सूखी घास पर गिरती बरखा,
हवा को भरती सुगन्ध—
धरती की सोंधी;
गिरती बूंदों के साथ काँपते पत्थर,

सतेन्द्र नन्दन

अँधियारे में पानी की काँपती आवाज़,
लहरों के साँप,
सूखे नारियल की बहती खोपड़ी !
वैतरणी में फिर बाढ़ आई है;
पंडित ने गाय की दुम पकड़ रखी है,
किन्तु मैंने तो अभी तक तैरना सीखा नहीं !

सिद्धार्थ, मेरे बेटे,
मेरे पिता की आँखों में उजाला है—
दूसरी दुनिया का ।
उन चार वर्जित दृश्यों में से,
दो तो तुमने देख लिये,
अपने पिता के पिता में—
एक बीमार आदमी और एक बुड्ढा भी ।

तीसरा,
वह तुम्हें देखने नहीं देंगे ।
एक लाश,
नहाई, धुलाई, सँवारी, सजाई,
गेंदे और हाइबिस्कस के फूलों से;
समुद्र के किनारे जलाई—
एक मुट्ठी राख ।

और चौथा,
एक वैरागी भिक्षु,
जो शायद तुम बनो एक दिन,
जानने के लिए—
इस कभी न समाप्त होनेवाले,
जीवन की विवशता !
वहाँ तक पुराने रास्ते नहीं पहुँचते,
और न वहाँ है, किसी के पगचापों की आहट,
बीते हुए लोगों के मंत्रों से चहकती—
एक चिड़िया तक नहीं;
ओम, आमीनी !

सिद्धार्थ,
एक बार फिर,
राख और घास पर चलकर,
अपना रास्ता स्वयम् बनाओ।
एक बार फिर सिखाओ,
कैसे जियें जीवन,
हम, अपने इस जीवन में ?*

[अनुवादक : दयाप्रकाश सिन्हा]

*फिजी की अंग्रेजी कविता।

हरा

इन्दु जैन

हरा
घेरता हुआ
उतरता भीतर तक
ठंडी नरम सुइयों से
छेदता हुआ
सिर से पैर तक
सीता हुआ
आँखों के लाल ज़ख्म
धरा की कोख से
बादल फूटता हुआ
फव्वारे-सा
सिर पर छूटता हुआ
मुलायम तरल
दूब के ओलों में
मारता
सहलाता हुआ
हिलता हुआ
हवाओं की नसें फुलाता
खून की धार को
बीचमबीच काटता हुआ
बाँटता हुआ

हरा

सिर से पैर तक
सब्ज़ ठंडी आग में
तपाता हुआ
पकाता हुआ
कच्चे सपनों के
झूले भारी फल
उगाता हुआ
वितृष्णा-खीझ
अनमनापन
रोज़-रोज़ से
असहिष्णु बनाता हुआ
नदियाँ बहाता हुआ
विपरीतमुखी
झुलाता हुआ
चिढ़ाता हुआ
धुएँ में उगनेवाले
पैसे के फल मुर्झाता हुआ
खिलखिलाता हुआ
उपेक्षा से
सरसराता
ललचाता हुआ
हरा—
मेरा होकर भी
एक झटके से
दामन छुड़ाता
हमें परदेसी
पराया बनाता हुआ।

(दीमापुर से कोहिमा के रास्ते की याद में)

शब्द

सुखवीर विश्वकर्मा

शब्द के पांव नहीं होते
फिर भी वह चलता है
घूमता है/फिरता है
आदमी की तरह

शब्द की कोई भी आकृति हो सकती है :
मन्दिर जैसी/मसजिद जैसी/गिरजा जैसी
चाकू-तलवार जैसी ।
या बख्तर जैसी ।

शब्द एक यात्री है :
उसके आँखें हैं और कान भी
वह होता है दूरदर्शी
उसमें है सब-कुछ सुनने का सामर्थ्य भी ।
उसने अपनी यात्रा के दौरान देखा है
बदलते इतिहास; एक सत्ता का
दूसरी सत्ता को निगलते ।

शब्द सूरज है :
चबा-चबाकर अंधकार
वह हरता है धरती की पीड़ा
रजनी की काली चादर पर
टाँका करता है/किरणों की जाली
झरने को देता है संगीत
सन्नाटे को स्वर;
पाटता रहता है वह
गाँव-नगर की दूरी ।

शब्द दाता है
शब्द विधाता है
अमर है शब्द
कभी नहीं मरता
बाहर रहकर भी शब्दकोष के
अर्थों से नहीं डरता ।
विषपायी शंकर वह वह कालजयी
पी लेता है समय को
समो लेता है प्रलय को
अपने भीतर ।

आदर्श का पागलपन

नाणल

अन्न-वस्त्र से हीन, दीन शोकाकुल जीवन—
इसे नगण्य मानकर, मैंने
अम्बर के छोरों तक जाना आज चुना है
क्या ऐसा पागलपन पहले कभी सुना है !

है मुझको मालूम
वहाँ झंझा के झोंके जो प्रचण्ड हैं
खण्ड-खण्ड कर देंगे मुझको
दशों-दिशाओं में छितरा देंगे मेरे कण;
अन्न-वस्त्रों से हीन, दीन शोकाकुल
जीवन को सँवारना अधिक ठीक था
और साध्य भी वही अधिक था,
किन्तु क्या करूं
मुझे शून्यता यह अम्बर की खींच रही है
एक कुतूहल ही धारा-सी उदासीनता को
उदात्त बन सींच रही है।

छानूं मैं आकाश, शिखर हिमगिरि को लाँघूं
सागर की लहरों को ऐसा गिनूं,
गिनी जा सकती है गति
मेरी ही नाड़ी की जैसे।
सूक्ष्म-शून्य में सत्य-पुंज नक्षत्र उगाऊं
थक जाऊं तो लगे न सूना,
लीन शून्य में होकर मानूं
धन्य आपको।

नाणल

जैसे यीशू ने सलीब को स्वीकारा था
जैसे गौतम के हाथों से दुःख हारा था
जैसे मिथ्या-दृश्य पोंछकर
शंकर ने आत्मा को जाना
गांधी, सच की छान-बीन के पथ पर दौड़ा ।
पागलपन इस सबको माना सदा जगत ने
किन्तु सदा ऐसे पागल होते आये हैं
हमें उन्हीं की जात-पाँत का समझो चाहे

अम्बर के छोरों तक जाना
लेकिन हमने आज चुना है
और इसी पागलपन की कड़ियाँ जोड़ेंगे
तुम जो सावधान रहत हो यहाँ
फूंक-फूंककर पीते हो हर शीतलता को
बना अगर तो पाँव तुम्हारे भी
इस पथ पर हम मोड़ेंगे ।

[तमिल से]

एक शब्द

पुरुषोत्तम सदाशिव रेगे

एक शब्द ज्यादा है, दो ओठों से;
दो ओठ ज्यादा हैं कभी-कभी
सौ चोटों से;
और पास-पास नहीं हैं दो ओठ कभी-कभी—
दूरी है उनमें कोसों की।

इस विडम्बना और दूरी को सहना
या ओठ सींकर चुप रहना
न कहना एक भी शब्द

एक छवि को दूसरी छवि से हटाते रहो
भीतर के अपने दर्द को इस तरह घटाते रहो
घटाते-घटाते भी दर्द बढ़ जाता है मगर
ज़िंदगी का नशा कई बार उतरकर
फिर पूरी तरह चढ़ जाता है मगर।

सयाने हमें और भी कुछ बतायेंगे
वे इन राज़ों को खोलेंगे-समझायेंगे
मगर शून्य कैसे मान लें हम सारे सबको
एक शब्द को, दो ओठों को
कोसों की दूरी और सौ-सौ चोटों को।

[मराठी से]

धरती माता

बाला मणियम्मा

अंधेरे से झरकर आता है एक गीत
लहराता है अजगर की तरह
भरता है ध्वनियाँ छाती में भेद-भाव की
युद्ध थोप देता है
बना देता है धरती को तसवीर
एक कभी न भरनेवाले घाव की ।
सिद्ध और किसी के उपाय से अविद्ध
घूम रहा है यह स्वर जो कोलाहल है
जहाँ जाता है वहाँ फिर और कुछ नहीं है
बस हलाहल है, द्वेष है
द्रोह है, अशांति है, क्लेश है
प्रेम को अपराधी तय करता है यह
पारस्परिकता को द्वन्द्वों में लय करता है यह
कहता है मिटाओ मिटाओ मिटाओ
मिटाना सच है बनाना झूठ है
जीवन एक लूट है
लूटो और जियो
विनाश का अमृत पियो ।
धरती मगर अजब एक माता है
भले ही यह गीत
उसके आकाश को गुंजाता है
और फँस भी जाती हैं जातियाँ

इसके फेर में
मगर धरती-माँ की बाँहों के घेर में
प्रेम फिर भी रहता है सुरक्षित और
खिला हुआ
आदमी हज़ार तनावों के बीच रहता है
पारस्परिकता में मिला हुआ।

[मलयालम से]

दो गीत

डॉ० रवीन्द्र भ्रमर

जामुनी घटाएँ

घिरती हैं जामुनी घटाएँ—
यमुना-तट पर ।

बादल में लुका-छिपी करती हैं बिजलियाँ
लहरों में तिरती हैं चाँदी की मछलियाँ,
कुण्डल की कोर दमक जाए—
यमुना-तट पर !

मेघों की ठनक, बजे घन-कुजों में मृदंग,
हवाएँ थिरक उठतीं, बूंदों के रास-रंग,
नूपुर के मृदु स्वर लहराएँ—
यमुना-तट पर !

सजती है इन्द्रधनुष की झालर आर-पार,
तरु कदम्ब पर सतरंगे झूलों की बहार,
पीताम्बर फहर-फहर जाए—
यमुना-तट पर !

मोर, पपीहा, कोकिल एक राग बोलते ,
एक छन्द खोलते कि एक अमृत घोलते,
मन-मोहन बाँसुरी बजाएँ—
यमुना-तट पर !

घिरती हैं जामुनी घटाएँ
यमुना-तट पर !!

बाँसुरी पुकारे

बार-बार बैरिन बाँसुरी पुकारे।
दो पल भी चैन नहीं उसके मारे।।

उसके मधु छन्द में ढली सारी रात,
उसके अनुराग में नहा उठा प्रभात,
लाज की कली चटकी केसर छिटकी—
खिले मानसर में कुंकुम के जलजात,
उस सौतन के ऐसे हैं न्यारे बोल
अनचाहे रँग जाते साँझ सकारे।
बार-बार बैरिन बाँसुरी पुकारे—
दो पल भी चैन नहीं उसके मारे।।

भरी दुपहरी में यह ललचाई टेर,
उसने कर रक्खी है कैसी अंधेर,
सिर पर सूरज, आँगन में चौड़ी धप
हैं कितने काम, हो गई इतनी देर,
कौन हर पहर करने बैठे सिंगार
कौन हर घड़ी बाजूबन्द सँवारे
बार-बार बैरिन बाँसुरी पुकारे—
दो पल भी चैन नहीं उसके मारे।।

मोहनी करे है कुछ ऐसे उपचार,
अम्बर पर मेघ उठे, सागर में ज्वार,
चंदा थम जाये, सूरज भूले राह,
मन खुल-खुल जाये तन माँगे अभिसार,
मन-मोहन रास रचाते यमुना तीर
कैसे जाऊँ, अटपट प्रेम-कगारे
बार-बार बैरिन बाँसुरी पुकारे—
दो पल भी चैन नहीं उसके मारे।।

काल नक्षत्र

अमृता भारती

तुम उस एक नक्षत्र को
त्रिशूल की नोक पर उतारना
जिसमें ठहरी हुई है
जगत की रात्रि
मेरी मधु कला
शिव की प्रलयांकित नृत्यमुद्रा ।

तुम उस नक्षत्र को
मेरे माथे पर टाँकना
ताकि मैं उधेड़ सकूं
तुम्हारी भौंहों का अंधकार
स्फटिक देह का नील चिह्न
चैतन्य आकाश का एकाकी अहंकार

तुम उसे मेरे माथे पर टाँकना
उस एक काल नक्षत्र को ।

गांधीजी और उनका जीवन-दर्शन

शंकर त्र्यंबक धर्माधिकारी

गांधीजी और उनका जीवन-दर्शन। 'दर्शन' शब्द आया है और 'जीवन' शब्द भी आया है। प्रायः ऐसा होता है कि जो दार्शनिक होते हैं उनका जीवन से सम्बन्ध नहीं होता और जो जीते हैं उनका दर्शन के साथ सम्बन्ध नहीं होता। दर्शन शब्द का प्रयोग अक्सर तत्त्वज्ञान—फ़िलासफ़ी के अर्थ में किया जाता है और एक ने ऐसा वर्णन किया है कि "फ़िलासफ़ी इज़ ए लेवर इन डार्क टु डिस्कवर ए ब्लैक कैट ह्विच इज़ नॉट देयर"। तो फ़िलासफ़ी अलग है और जीवन-दर्शन अलग है। फ़िलासफ़ी में वस्तु के प्रति वस्तु को देखकर हमारी जो प्रतिक्रियाएँ होती हैं, भावनास्पद और बौद्धिक, उनका संग्रह होता है और उसका नाम तत्त्वज्ञान है। दर्शन इससे अलग है। दर्शन का मतलब देखना है। लेकिन हमारे यहाँ भी परम्परा से कुछ भिन्न इसका अर्थ किया गया है। भगवद्गीता में श्लोक आता है कि जो ज्ञानी होता है वह ब्राह्मण, शूद्र, चाण्डाल, गाय, हाथी और कुत्ते को समान देखता है—पंडिताः समदर्शिनः। तो धर्मशास्त्र के एक महान् पंडित ने, धर्मशास्त्र के ही नहीं वेदान्त के एक महान् पंडित ने मुझसे कहा कि तुम अछूतों के साथ बैठते-उठते हो, खाते-पीते हो, गीता के उपदेश के यह खिलाफ़ है। मैंने कहा कि उसमें तो कहा है—'शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः' कुत्ता और कुत्ता खानेवाला सभी को ब्राह्मण समान देखता है। तो उन्होंने मुझे समझाया कि उसमें 'समदर्शिनः' है, 'समवर्तिनः' नहीं ; दर्शन का वर्तन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। वह देखता है, उन सबसे समान रूप से उनके साथ व्यवहार करता है, ऐसा नहीं है। तो पहली चीज़ जो मैं आप लोगों से कहना चाहता हूँ वह यह है कि गांधी का कोई तत्त्वज्ञान नहीं था, उसका अपना कोई दर्शन नहीं था। कोई विचार-प्रणाली नहीं थी। वह सत्य की खोज में प्रवृत्त हुआ था। जो सत्य की खोज करता है, वह किसी भी प्रकार के विचार को पकड़ नहीं सकता। किसी प्रकार के विचार के साथ उसका गठबन्धन

नहीं हो सकता। सत्य अलग चीज़ है, विचार अलग चीज़ है। गांधी सत्यनिष्ठ था, विचारनिष्ठ नहीं। और इसलिए उसका दर्शन जीवन से विकसित हुआ।

आपने ऐसी चीज़ कभी नहीं देखी होगी कि पहले गांधी ने अपने दर्शन की बात कही है और फिर आचरण करने लगे। दक्षिण अफ्रीका में गांधी की मिट्टी पलीद नहीं होती तो हमको महात्मा गांधी ही नहीं मिलता। महात्मा गांधी भारतवर्ष के लिए दक्षिण अफ्रीका की देन है। दक्षिण अफ्रीका का वरदान है। हमारे देश में अगर वह रहता तो आत्मविज्ञान में ही कैद रह जाता, उससे आगे नहीं जाता। उसे जीवन्त समस्या में से जो स्फूर्ति मिली सत्य की खोज की तरफ उसमें से वह दौड़ा। उसने कोई एक सिस्टमेटिक फ़िलासफ़ी, एक व्यवस्थित तत्त्वज्ञान विकसित किया हो, ऐसा नहीं हुआ। यह गांधी के लिए पहली चीज़ है जो मैं निवेदन करना चाहता हूँ। उसकी कोई 'आइडियोलॉजी' नहीं थी। 'आइडियोलॉजी' का मतलब है विचार का सम्प्रदाय। विचार जब बर्फ की तरह जम जाता है, तो उसका प्रवाह समाप्त हो जाता है, विचार ही कुंठित हो जाता है, उस जमे हुए विचार को 'आर्गनाइज़' करने का नाम 'आइडियो-लॉजी' है। एक दफा शैतान जा रहा था, अपने शिष्यों के साथ। दो शिष्य थे—एक आगे-आगे चल रहा था, एक उसके कुछ पीछे, और पीछे स्वयं शैतान बादशाह चल रहे थे। जो शिष्य आगे चल रहा था, उसने रास्ते से कोई चीज उठा-कर अपनी जेब में रख ली। तब दूसरा शिष्य शैतान, अपने गुरु से कहने लगा कि इसने कोई चमकीली चीज़ उटा ली है और उसे जेब में रख लिया है, आपको दिखाना नहीं चाहता। शैतान ने पूछा कि तूने क्या उठाया। तो शिष्य ने कहा कि सत्य का एक टुकड़ा पड़ा था, वह टुकड़ा चमक रहा था, मैंने जेब में रख लिया उठा कर। तो शैतान ने कहा कि कोई बात नहीं, इसमें चिन्ता की कोई बात नहीं है। "बिकाज़ ही इज़ डूइंग टु आर्गनाइज़।" वह सत्य को संगठित करनेवाला है, संगठित सत्य तो मेरा ही होगा, वह फिर 'कोरा सत्य' तो रह ही नहीं सकता। वह मेरी चीज़ होगी—संगठित विचार अर्थात् अविचार। संगठित विचार जब आक्रमण-शील बन जाता है, तो उसे वाद कहते हैं। और यह संगठित विचार, आक्रमणशील संगठित विचार जब सत्ताकांक्षी बन जाता है तब उसे पार्टी कहते हैं। गांधी सत्य-निष्ठ था, इसलिए इनमें से कोई निष्ठा उसे छू नहीं सकी थी। एक दूसरी चीज़; हमारे देश में आत्मज्ञान और आत्मविज्ञान, कोई कहता है कि पांच हजार वर्षों से चल रहा था, कोई कहता है कि दस हजार से और कोई कहता है कि पता नहीं क्या जाने लाख वर्षों से भी चल रहा हो। लेकिन हमारे सारे इतिहास में यह देश गुलाम ज्यादा रहा और आज़ाद कम रहा। तो एक बात मेरे दिमाग़ में हमेशा पैदा होती रही, एक सवाल उठता रहा बचपन में भी कि क्या आत्मज्ञान का गुलामी के साथ

कोई सम्बन्ध है ? अवश्य रहा होगा। एक आदमी निकला गांधी जिसने कहा कि जहाँ आजादी नहीं है वहाँ आत्मज्ञान हो ही नहीं सकता। अगर हो तो जीवन में नहीं होगा। परोक्ष हो सकता है, प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

१६१६ में जब गांधी ने सिविल डिसओबीडियन्स—सविनय अवज्ञा कानून भंग का आन्दोलन शुरू किया तो जार्ज अरुण्डेल ने एक पत्र लिखा—"गांधी तुम तो धार्मिक पुरुष हो, साधु हो, महात्मा हो। तुम इस राजनीति के पचड़े में, इस पंक में, इस कीचड़ में क्यों पड़ते हो ?" तो जवाब दिया "यू आर राइट। माई बेस इज़ रिलीजन। बट आई टेक पार्ट इन पॉलिटिक्स बिकाज़ पॉलिटिक्स कैन चेंज द सोल ऑफ़ इंडिया"। भारत की आत्मा का स्पर्श यह राजनीति करती है। गांधी के साथ थे चार्ली एन्ड्रूज़। चार्ली एन्ड्रूज़ ने एक किताब लिखी है, एक लेखमाला लिखी, उसके बाद में किताब भी। 'इंडिपेन्डेन्स इमीडियेटली' इस देश को स्वतन्त्रता तुरन्त चाहिए। स्वतन्त्रता तात्क्षणिक आवश्यकता है। और उसमें लिखा कि जो देश ज्यादा दिनों गुलाम रहता है उसकी सांस्कृतिक और आत्मिक हानि होती है। इसलिए स्वतन्त्रता आज ही चाहिए। इस देश के जिन थोड़े-से व्यक्तियों ने, सत्यनिष्ठ व्यक्तियों ने इसे समझा, माना, उस पर आचरण किया, उनके शिरोमणि गांधी हैं। आज एक मित्र आये थे। उनसे गांधीजी की मूर्ति बनाने को कहा गया था। उन्होंने बताया कि मैं गांधी के कुछ सूत्र लिख देना चाहता हूँ। उनमें से एक सूत्र यह है कि मेरा जीवन ही मेरा सन्देश है। यह नहीं कहा कि मेरा जीवन ही आदर्श है। मेरा जीवन ही मेरा संदेश है। मतलब यह कि मेरे दर्शन में और जीवन में अन्तर न ढूँढ़ें, उनमें विरोध नहीं है। जीवन और दर्शन में अनुबन्ध है। जिस क्षण मैंने समझ लिया कि स्वतन्त्रता के बिना न धर्म जी सकता है, न अध्यात्म जी सकता है, न नैतिकता जी सकती है, न संस्कृति रह सकती है, उसी क्षण मैं स्वतन्त्रता की तरफ मुड़ा और स्वतन्त्रता को ही अपना लक्ष्य माना। जब तक स्वतन्त्रता नहीं मिली है, तब तक कोई भी पूर्ण विकसित नहीं हो सकता है। उसी वक्त एन्ड्रूज़ या किसी ने लिखा था, "स्लेवरी इज ए डार्क रूम इन व्हिच ऑल निगेटिव्स आर डेवेलप्ड।" सारे दुर्गुणों का विकास गुलामी में होता है, दासता में होता है। इसलिए स्वतन्त्र रहने की आवश्यकता है। हमारे आध्यात्मिक देश में यह बुलन्द आवाज़ जिसने उठाई वह अद्वितीय वैष्णव, गांधी था। वैष्णवजन के दोहे गाये गए मगर उन दोहों में स्व-तन्त्रता का कहीं कोई स्थान नहीं है। वैष्णव के गुणों में स्वतन्त्रता भी आती है और उसका जीवन में आचरण होना चाहिए और वह लोकजीवन में चरितार्थ होनी चाहिए, तभी आध्यात्मिक और नैतिक गुणों का विकास हो सकता है। थोड़े-से व्यक्तियों ने इस देश में इस बात को समझा उनमें से गांधी को मैं श्रेष्ठ मानता हूँ; इसीलिए कि उन्होंने कहा कि मेरी प्रवृत्ति तो धार्मिक वृत्ति ही है, परन्तु

मैं राजनीति की तरफ मुड़ा हूँ और फिर मुड़ने का कारण बताया। उन्होंने यह भी कहा कि मैं स्वतन्त्रता तो चाहता हूँ किन्तु वह रामराज्य होगा। हम लोग छोटे थे तो हमेशा यह सोचते थे और माँग भी करते थे बुद्धिवादी लोगों से, लोकमान्य तिलक से, गांधी से कि स्वराज्य की परिभाषा करो, व्याख्या करो। तो किसी ने कुछ कहा, किसी ने कुछ कहा। तो लोकमान्य ने और दूसरे लोगों ने स्वराज्य की परिभाषाएँ दीं। मगर गांधी ने उसकी कोई बंधी-बँधाई परिभाषा नहीं दी। 'राम-राज्य' कह दिया और उसे अलग-अलग संदर्भों में समझाया भी मगर परिभाषा नहीं दी। एक दफ़ा कह दिया। गांधी परिभाषाएँ देता ही नहीं था क्योंकि वह शास्त्री नहीं था। आप जानते हैं न, शास्त्री नहीं था, इसलिए क्रान्तिकारी था। शास्त्री और क्रान्तकारी में फर्क है। प्रीस्ट, पुरोहित किताब से बाहर कभी जा नहीं सकता। जिसकी बुद्धि किताब से बाहर नहीं जाती है उसका नाम शास्त्री है। वास्तविक क्रांतिकारी वह होता है जिसकी बुद्धि हमेशा किताब से बाहर ही जाती है। इसलिए गांधी को कभी किसी ने शास्त्री या विद्वान् नहीं माना। लेकिन वह गाँव-वालों की भाषा में बोलता था, रामराज्य। अब हम रामराज्य का क्या मतलब लगाते हैं। इसमें शूद्र का वध होता है, हड्डियाँ भुनती हैं, इसमें सीता का त्याग होता है, इसमें बालि के साथ दगा होता है और जिसमें शूर्पणखा के नाक-कान काटे जाते हैं। यह हमारा रामराज्य है।

गांधी जिस रामराज्य की कल्पना करता था, उसे शुभ दर्शन कहते हैं। जो कुछ पढ़ो, देखो, उसमें से कितना शुभ है उसको ग्रहण करो। एक शिकायत करता है कि यह सृष्टि भगवान् ने बड़ी भद्दी बनाई है, यहाँ गुलाब-जैसे सुकुमार फूलों में काँटे लगते हैं। दूसरा कहता है कि इतनी सुन्दर सृष्टि है, काँटों में भी गुलाब लगते हैं। देखने का फर्क है। गांधी का भी देखने का फर्क था। गांधी ने भी राम-राज्य देखा। कौन-सा रामराज्य? सत्य के लिए राम ने राज्य को छोड़ दिया। जब राज्याभिषेक होनेवाला था, उसी दिन लक्ष्मण ने कहा कि राम तुम अगर राज्य नहीं करना चाहते तो मैं कौन होता हूँ "अवध तहाँ जहँ राम निवासू।" जहाँ तुम्हारा निवास होगा, मेरे लिए वहीं अयोध्या है। भरत के लिए तो सारे दाँवपेच लगाकर, कैकेयी ने तैयारी कर रखी थी मगर कैकेयी से भरत ने कहा कि मैं राज्य नहीं करूँगा। वह राम को मनाने गया और उनकी पादुकाओं को लेकर आ गया। बंकिमचन्द्र ने एक छोटी-सी पुस्तक लिखी है 'लोक रहस्य'। उसमें मूर्खों की एक सूची दी हुई है। उसमें प्रधान मूर्ख है हरिश्चन्द्र जिसने सपने में दिया हुआ राज्य वास्तव में दे दिया। ऐसी सूची है उसमें। फिर आते हैं राजा दशरथ, जिन्होंने संकट में दिये वरदान के लिए पुत्र को भी भेज दिया जंगल में। और उसके बाद के मूर्खों में हैं राम जो अपना राज्य छोड़ गये और सबसे मूर्ख शिरोमणि है भरत, क्योंकि वह

मुट्ठी में आया हुआ राज्य छोड़ देता है। रामराज्य का पहला लक्षण यह है कि गद्दी के हकदार सब होते हैं लेकिन उम्मीदवार कोई नहीं। हकदार सब, उम्मीदवार कोई नहीं, रामराज्य। जितने हकदार सभी उम्मीदवार यह है हरामराज्य—दोनों में फर्क है। तो यह जो दूसरा राज्य है जिसमें सभी उम्मीदवार होते हैं, इसकी आचार्या है मंथरा। राम नहीं और भरत भी नहीं। विद्रोहियों को संकेत है जो गांधी के अपने जीवन में देखे जाते हैं। स्वराज्य के लिए प्राणपण से लड़ाई की, अहिंसक लड़ाई की लेकिन स्वराज्य को आते देखा तो नवखली चले गये। कलकत्ता में उपवास किया और दिल्ली में आकर भी उपवास किया। तो यह नेता था इसलिए कि प्रतिनिधि नहीं था। प्रतिनिधि अलग होता है, नेता अलग होता है। इसलिए गांधी की राजनीति में कुछ ऐसे अद्वितीय लक्षण थे जो और कहीं नहीं पाये जाते, लेकिन आदमी था कुछ अनोखा, बेमेल। जो अपने जमाने से किसी तरह से मेल नहीं खाता था। बातें भी अटपटी करता था। एक कैमिस्ट्री का प्रोफसर था, उसके सामने एक प्रयोग था। अगर वह प्रयोग करता है, परीक्षण करता है तो जान जाने का खतरा है, छोड़ देता है तो विज्ञान का कदम आगे नहीं बढ़ता है। तो वह असमंजस में पड़ गया, अपने साथी से पूछा कि ऐसी समस्या है क्या करूँ। साथी ने कहा, सीनियर से पूछो। अब सीनियर में एक खासियत होती है हमेशा, वह युक्तियाँ बहुत जानता है, वे बहुत उसको याद रहती हैं। वह सीनियर के पास गया, कहा कि ऐसा एक्सपेरिमेंट है, और यह दुविधा है, क्या करूँ। उसने जवाब दिया और नुस्खा बताया बहुत सुन्दर—"इफ यू वान्ट ए डिफीकल्ट जॉब डन, गैट ए डैमफूल टु डू इट हू डज़ नॉट नो दैट इट कैन नॉट बी डन।" ऐसे बेवकूफ को पकड़ो जिसको यह पता ही नहीं है कि यह मुश्किल काम है। तो ऐसे मूर्ख हुए हैं, हरिश्चन्द्र, दशरथ, भरत, राम, साइमन ऑलिवर, मैक्सिको का लिबरेटर, या फिर कहीं ईसा या शेखचिल्ली। ऐसा ही एक "फूल ऑफ द फर्स्ट वाटर्स" पैदा हुआ मोहनदास करमचन्द गांधी। एक बात मैं निवेदन कर दूं कि मैं जो कहता हूँ, वह मेरा अध्ययन है। मेरे पास कोई अन्तिम निष्कर्ष नहीं है और कोई बात जिसे आप निश्चित मत कहते हैं वह भी नहीं है। मैं अध्ययन करता हूँ जिसमें से कुछ जिज्ञासाएँ पैदा होती हैं, कुछ प्रश्न मन में आते हैं। उन सबके समाधान या उत्तर भी मेरे पास नहीं है। मैं कुछ निष्कर्षों पर पहुँचा हूँ। उनमें से एक निष्कर्ष यह है कि दुनिया के सारे सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक सत्य प्रामाणिक प्रश्न में होता है, इसलिए जितने प्रश्न होंगे, उनको अपनाने की, उनको समझने की कोशिश हम करें और सबके साथ करें।

गांधी के जीवन-दर्शन के विषय में एक जो उनकी अनन्यतम विशेषता रही है वह यह रही है कि उन्होंने इस देश में परम्परा से चली आई भिन्न भूमिकाओं की दो सत्ताओं को मिला दिया। हमारे देश में दो भिन्न सत्ताएँ मानी

गई थीं। एक पारमार्थिक सत्ता और एक व्यावहारिक सत्ता। मैंने थोड़ा-सा इसका संकेत किया था कि समदर्शी कोई नहीं होता। यह हमारे यहाँ माना गया कि व्यावहारिक सत्ता का आचरण अलग और पारमार्थिक सत्ता का आचरण अलग। ऐसा एक दुहरा जीवन, एक दुहरा मानदण्ड इस देश में प्रचलित हुआ और उसका नतीजा यह हुआ कि हमारे देश के साधारण मनुष्य का ही नहीं, हमारे देश के साधकों का जीवन भी दुहरा हो गया। सिर्फ दुहरा नहीं, दो टूक हो गया। उसके दो टुकड़े हो गये। दो हैसियतों की तरह दो जीवन बन गये अलग-अलग। एक प्रसंग मुझे याद आता है, बहुत साल हो गये। एक सज्जन महाराष्ट्र के प्रसिद्ध नेता थे। वे पुणें की म्यूनिसिपैलिटी के अध्यक्ष थे और पुणें की कांग्रेस कमेटी के भी अध्यक्ष थे—नगर कांग्रेस कमेटी के। बम्बई का गवर्नर लॉर्ड विलिंग्डन आनेवाला था। म्यूनिसिपैलिटी ने प्रस्ताव किया कि उसे मानपत्र देंगे और कांग्रेस कमेटी ने प्रस्ताव किया कि उसका बहिष्कार करेंगे और काले झंडे दिखायेंगे। तो यह जो अध्यक्ष महोदय थे, जब ट्रेन आई तब स्टेशन पर गये, काले झण्डे दिखाये और 'गो बैक' के नारे भी लगाये। और शाम को जब म्यूनिसिपैलिटी का इजलास हुआ तो उसमें अध्यक्ष के नाते मानपत्र भी पढ़ दिया। उन्होंने स्पष्टीकरण यह दिया कि मेरी दो हैसियतें हैं। दो हैसियतों से मैंने दो काम किये। मनुष्य की हैसियतें अलग-अलग हो सकती हैं। किसी के पिता हैं, किसी के पुत्र हैं, किन्तु इस तरह की दो हैसियतों में असमंजस नहीं होना चाहिए। हमारे देश में इनमें झूठा सामंजस्य हुआ। हमारे देश में इस तरह मनुष्य का व्यक्तित्व द्विखण्ड हो गया। पारमार्थिक शोध, ईश्वर-भक्ति या आत्मोन्नति की साधना अलग और व्यावहारिक जीवन उससे बिलकुल अलग। माना गया कि समाजोन्नति का कार्य और आत्मोन्नति का कार्य दोनों की साधना एक नहीं हो सकती। गांधी के जीवन में इन दोनों का समन्वय है, संवाद है। एक तरह से इन दोनों का मधुर मिलन भी है। गांधी के जीवन की यह विशेषता है। इसलिए हमारे देश के बहुत-से लोग जिनमें पारमार्थिक उत्कंठा थी मुक्ति की, वह भी गांधी के पास आये। नहीं तो हम लोगों के सामने बड़ी समस्या रहती थी। मैं जब इस खोज में निकला—मैं समझता हूँ कि आप लोगों में से हरएक कभी-न-कभी निकला ही होगा कि यह पारमार्थिक चीज क्या है इसको जानें, ईश्वर को समझने की कोशिश करें और जानने की भी कोशिश करें—तो कदम-कदम पर मेरे सामने एक प्रश्न खड़ा होता था, रखा भी जाता था कि अगर धर्म और देश में विरोध पैदा हो तो तुम देश के पक्ष में जाओगे या धर्म की तरफ मुड़ोगे।

मनुष्य का कल्याण और आत्मोन्नति, इन दोनों में किसी तरह का कोई विरोध नहीं होना चाहिए और न है। यह गांधी की विशेषता होने के कारण पारमार्थिक वृत्तिवाले और सामाजिक वृत्तिवाले—दोनों तरह के लोग उसके साथियों

में देखे गये। वह आध्यात्मिक साधक भी माना गया और सामाजिक जीवन में सामाजिक जीवन का परिष्कार, परिमार्जन करनेवाला भी माना गया। यह उनके जीवन-दर्शन की एक अन्यतम विशेषता है जो अन्यत्र नहीं पाई जाती। पहले जो समाजसेवक या राजनीतिज्ञ होते थे, या उन्हें राजनैतिक लोग कह लीजिए, उन लोगों का जीवन दुहरा होता था। सामाजिक जीवन अलग और मन्दिर का जीवन अलग। मन्दिर के यानी व्यक्तिगत जीवन में जो दोष समझा जाता था सामाजिक जीवन में उसे पुण्य माना जाता था। लोकमान्य तिलक के ज़माने तक यह विरोध रहा। गांधी पहला मनुष्य आया जिसने व्यक्तिगत जाति के नियम, मानदण्ड सामाजिक मूल्यों में रूपान्तर करने की कोशिश की। उनसे पहले, गांधी से पहले, गोखले ने यह कोशिश की थी। गोखले ने 'सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी' की स्थापना की और उसके उद्देश्यों में यह रखा कि हम पारमार्थिक मूल्यों का विनियोग सामाजिक जीवन में करेंगे, राजनैतिक जीवन में भी करेंगे। इसलिए गांधी ने गोखले को गुरु माना। गांधी गोखले के शिष्य थे, जैसा उन्होंने स्वयं कहा; और लोकमान्य तिलक के उत्तराधिकारी थे। लेकिन इन दोनों की संस्था में वे समा नहीं सके। 'सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी' में वे नहीं रह सके और लोकमान्य तिलक की 'केसरी' संस्था में भी नहीं रह सके। लेकिन लोकमान्य के उत्तराधिकारी और गोखले के शिष्य वे अवश्य थे। इस विशेषता की तरफ मैं आप लोगों का ध्यान दिलाना चाहता हूँ। श्वाइटज़र ने अपनी 'बुद्धिज्म' पुस्तक में लिखा कि गांधी के जीवन में एक दोष था। दोष कौन-सा बतलाया? यह कि गांधी ने पारमार्थिक मूल्यों का विनियोग ऐहिक जीवन में किया, व्यावहारिक, सामाजिक जीवन में किया। मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि उसने जिसको दोष कहा, वही गांधी की विशेषता थी, वही उनका गुण था। जितने व्यक्तिगत सदाचार के और सामाजिक सदाचार के नियम हैं उन सबका प्रयोग गांधी ने मनुष्यों के सम्बन्धों में करने की कोशिश की। इसे मैं मनुष्यों के सम्बन्धों का शुद्धीकरण कहता हूँ। मनुष्यों का मनुष्यों से सम्बन्ध ही सामाजिकता है। और अन्य कोई सामाजिकता तो है नहीं इसके अलावा, इसके अतिरिक्त। मनुष्य का मनुष्य से जो संबंध है वह निरुपाधिक हो यानी किसी भी प्रकार का स्वार्थ या अवान्तर प्रयोजन उसमें न हो। मनुष्यों को एक-दूसरे के निकट आना है, इसके सिवाय, इसके अतिरिक्त अन्य प्रयोजन न हो मनुष्य और मनुष्य के मिलन में। इसे सामाजिकता कहते हैं और यही व्यावहारिक, पारमार्थिक मूल्य है। व्यवहार में पारमार्थिक मूल्यों का विनियोग करने की कोशिश गांधी ने की, इसका सबसे बड़ा सबूत उनकी समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया में है। १६१६ में अमृतसर में कांग्रेस हुई। जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड के बाद—अलीबन्धु पहले-पहल उस कांग्रेस में आये और आते ही उन्होंने अपनी-अपनी टोपियाँ लोकमान्य के

चरणों में रख दीं। गांधी उस वक्त नये ही आये थे। कोई बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति नहीं थे। लेकिन लोग इतना जानते थे कि बहुत नैष्ठिक पुरुष हैं, दक्षिण अफ्रीका में बड़ा पराक्रम किया है। चित्तरंजन दास ने एक प्रस्ताव रखा कि यह कांग्रेस, सरकार ने जलियाँवाला बाग में जो अत्याचार किये, अमानवीय अत्याचार उनका धिक्कार करती है। गांधी खड़े हुए—कहा मेरा एक संशोधन है। प्रस्ताव के समर्थक थे विपिनचन्द्र पाल और सत्यमूर्ति। याने दास-पाल और सत्यमूर्ति का प्रस्ताव था। कहा गया कि अपना अमेंडमेंट, संशोधन पेश करो। संशोधन यह पेश हुआ कि इस प्रस्ताव में मैं यह जोड़ देना चाहता हूँ कि यह कांग्रेस उन ज्यादतियों, अतिशयताओं का भी निषेध करती है, जो हम लोगों की तरफ से हुईं। अब यह कांग्रेस के इतिहास में एक अनोखी चीज़ थी। यह कोई सह सके, ऐसी परिस्थिति नहीं थी। खापर्डे, लोकमान्य तिलक से कहने लगे कि मैंने पहले ही आपसे कहा था कि गांधी राजनीति वगैरा कुछ जानता नहीं है, महज़ भोला आदमी है। बालिश है। दास-पाल और सत्यमूर्ति तीनों ने कहा कि इस तरह का कोई प्रस्ताव राजनैतिक सभा में क्या कभी भी हो सकता है। यह बात एकदम ग़लत है। लेकिन इंग्लैंड में उस वक्त एक पत्र कांग्रेस की तरफ से निकलता था। 'इण्डिया' उसका नाम था। उसकी सम्पादिका थी, मिस हेलन नारमेन्टन। उसने अग्रलेख लिखा कि ईसा के बाद ईसा से एक कदम आगे जानेवाला आदमी आज पैदा हुआ है भारत में। ईसा ने जो कहा था वह 'गोल्डन रूल' कहा जाता है। स्वर्ण विनियम यह है कि तुम दूसरे से जिस तरह का व्यवहार चाहते हो, वैसा व्यवहार दूसरे के साथ अपनी तरफ से शुरू करो। अब यह आदमी क्या कहता है कि जिस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा दूसरे से हो उससे कुछ अधिक ही तुम शुरू करो। गोल्डन रूल में था कि जितना चाहते हो उतना करो; यह गोल्डन रूल, स्वर्ण नियम से एक कदम आगे गया कि जितना अपने लिए चाहते हो उससे कुछ अधिक ही दूसरे के लिए करो। वह चीज राजनैतिक व्यवहार में तो अनोखी थी ही, सामाजिक व्यवहार में भी इसे न्याय नहीं कहा जायेगा। न्याय में स्वर्णतुला होती है और वह तौल-तौलकर दिया जाता है। सौहार्द न्याय से कुछ अधिक होता है। सौहार्द में न्याय की अपेक्षा नहीं होती। लोकमान्य तिलक ने 'गीता-रहस्य' लिखा। एक श्लोक है गीता के चौथे अध्याय में—ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। लोकमान्य गीता की व्याख्या कर रहे थे। श्रीकृष्ण को क्या कहना था, न आप जानते है न मैं जानता हूँ, लेकिन जो लोकमान्य को कहना था, वही उन्होंने श्रीकृष्ण से कहलाया। जो गांधी को कहना था वह भी उन्होंने श्रीकृष्ण से ही कहलाया। विनोबा को जो कहना था वह भी श्रीकृष्ण से ही कहलाया। श्रीकृष्ण 'कॉमन टर्म' हुई। गणित में 'कॉमन टर्म' कैंसिल हो जाती है। लेकिन जो व्याख्या की, वह किस प्रकार की। लोकमान्य ने अपने 'गीता-रहस्य' में जो व्याख्या की उसका मतलब यह है कि

जो शठ है, दुष्ट है उसके साथ मैं दुष्ट बनता हूँ और जो शठ नहीं है, सुष्टु है, सज्जन है उसके साथ मैं सज्जनता का व्यवहार करता हूँ।

गांधी ने 'अनासक्ति योग' में इस पर एक टिप्पणी लिखी और कहा कि ऐसा न्याय तो है। मैं भी न्यायप्रिय आदमी हूँ लेकिन जो मैं अपने लिए चाहता हूँ वह दूसरों के लिए चाहने लगूं और जो दूसरों के लिए चाहता हूँ वह अपने लिए चाहने लगूं। अगर मेरी कोई गलती होती तो है अक्सर मैं माफी चाहता हूँ ईश्वर से भी और लोगों से भी कि भई, यह गलती हो गई है, मैं गलती स्वीकार करता हूँ, चूक को क्षमा कर दें। लेकिन देखा जाता है कि अगर दूसरे की भूल हो तो न्याय के नाम पर हम उसे दंडित करने का आग्रह करते है। अपने लिए माफी और दूसरे के लिए सज़ा—यह साधारण संसार में नियम देखा जाता है। मैंने इसको उलट दिया है कि अपने लिए न्याय और दूसरे के लिए क्षमा। अब यह एक ही श्लोक की व्याख्या है—गांधी और लोकमान्य तिलक की। इसमें गांधी का दर्शन है, दर्शन से मेरा मतलब है दृष्टि—आउटलुक, दर्शन से मतलब फ़िलासफ़ी नहीं, आउटलुक। दुनिया की तरफ देखने की उनकी दृष्टि। यह दृष्टि उसमें से व्यक्त होती है। अब इसी में से उनकी समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया भी निष्पन्न हुई है। दूसरी विशेषता इस प्रक्रिया में ही दिखाई देती है। उन्होंने देश के सामने तीन प्रतीक रखे—क्रान्ति की हर प्रक्रिया में दो चीजें आवश्यक मानी जाती हैं। एक—कुछ प्रतीक हों जो कार्यक्रम को भी सूचित करें और क्रान्ति के उद्देश्य के भी सूचक हों। इस प्रकार कुछ प्रतीक रखे जाते हैं। तीन प्रतीक उन्होंने रखे—सामुदायिक प्रार्थना, सामुदायिक कताई और सामुदायिक सफ़ाई। सामुदायिक प्रार्थना ईसाइयों में थी, मुसलमानों में थी, हमारे यहाँ भी ब्राह्मसमाज में थी, प्रार्थना-समाज में थी, सामुदायिक प्रार्थना गांधी से पहले थी इस देश में। फिर इस प्रार्थना में कौन-सी ऐसी विशेषता थी? जितनी प्रार्थनाएँ थीं उनमें भजन गाये जाते थे भिन्न-भिन्न धर्मों के भी, लेकिन किसी प्रार्थना में 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम' नहीं था। सामुदायिक प्रार्थना में भी, सबके हृदय की आकांक्षा अपने लिए समान हो इतना काफी नहीं है, मेरी प्रार्थना आपके लिए हो, आपकी प्रार्थना मेरे लिए हो, असल में यह सामुदायिक प्रार्थना का आशय है। जिसके यहाँ चोरी हुई वह प्रार्थना करे कि भगवान् चोर पकड़ा जाये तो मैं सत्यनारायण की कथा कराऊँगा, और चोर कहे कि मैं न पकड़ा जाऊँ तो प्रसाद, नैवेद्य चढ़ाऊँगा। मनौती दोनों की अलग-अलग हो तो सामुदायिक प्रार्थना नहीं हो सकती। मस्जिद में प्रार्थना हो कि तुर्किस्तान की विजय हो और गिरजाघरों में प्रार्थना हो कि इंग्लैंड की विजय हो तो इन दोनों की प्रार्थना सामुदायिक नहीं हो सकती। सामुदायिक प्रार्थना का आशय समान होना चाहिए। इसलिए प्रार्थना में जैसा मैंने कहा, प्रार्थना का नियम गांधी ने कभी भंग नहीं होने दिया। यह तो ठीक है कि यह उनकी व्यक्ति-

गत साधना थी, लेकिन उसे उन्होंने सामाजिक मूल्य के रूप में परिणत किया और यह सामाजिक मूल्य था—इस देश में एक समष्टि का आशय, एक पारस्परिकता की भावना प्रार्थना में से भी विकसित हो। मैं मानता हूँ कि यह गांधी की प्रार्थना का एक बहुत बड़ा संकेत है जिसको हमने ग्रहण नहीं किया। क्योंकि प्रार्थना हमारे साथ, हमारे सामने हमेशा एक रुटीन, एक विधि रही है। प्रार्थना हृदय से कभी नहीं निकली। इसलिए यह आशय हमारे राष्ट्रीय जीवन में कभी व्यक्त नहीं हुआ। असल में राष्ट्रीयता क्या चीज़ है, इसको भी थोड़ा सोच लें, समझ लें। बहुत-सी परिभाषाएँ राष्ट्रीयता की हुई हैं, होती रहेंगी अंत तक। लेकिन मैं समझता हूँ कि इन सबमें एक परिभाषा सत्य के बहुत ही निकट है और वह परिभाषा यह है कि जिस भौगोलिक मर्यादा में लोग एक-दूसरे के साथ रहना चाहते हों वह राष्ट्र है। हमारी परम्परा और हमारी संस्कृति ऐसी रही है कि एक-दूसरे के पड़ौस में रहो, लेकिन एक-दूसरे के साथ नहीं। हम अगल-बगल में रहे एक-दूसरे के, कितने हजार वर्षों से रहे हैं, भगवान् जाने, लेकिन कभी एक-दूसरे के साथ नहीं रहे। इसलिए हमारे देश में राष्ट्रीयता की भावना कभी विकसित नहीं हुई। एक ही भावना रही—भारतवर्ष एक है और भारतवर्ष पवित्र है। लेकिन यह भावना कभी नहीं रही कि इस भूमि पर जितने लोग रहते हैं उनको एक-दूसरे के साथ रहना चाहिए। इसका परिणाम आज आप देख रहे हैं। उस सबका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। भिन्न भाषिक लोगों में और भिन्न सम्प्रदाय के लोगों में अब एक साथ रहने की भावना कहीं है ही नहीं। हरएक अपने-अपने व्यक्तिगत जीवन का पक्षपाती है। अलगोझा, अलगाव की भावना इस देश में है और राष्ट्रीयता की जगह बहुराष्ट्रवाद आ रहा है। तेजी से आ रहा है। इस तरफ मैं आपका ध्यान इसलिए दिलाना चाहता हूँ कि गांधी के हर कार्यक्रम में उनकी एक दृष्टि थी। वह दृष्टि अगर एक वाक्य में कहूँ तो यह थी—मनुष्यों को मिलाने की। मनुष्य को मनुष्य के निकट लाने की। यह दृष्टि खास थी, यानी इसमें दो-तीन चीजें साथ हो जाती हैं - एक तो परिस्थिति को बदलना, सन्दर्भ को बदलना, 'चेंजिंग द कान्टेन्ट्स'। और दूसरा सन्दर्भ को बदलने वालों को बदलना। जिसे उन्होंने हृदय-परिवर्तन कहा। जो सन्दर्भ को बदलना चाहते हैं उनके अपने दिल बदले हों, वे मिलना चाहें एक-दूसरे से। उनमें पारस्परिकता हो। यह पारस्परिकता शब्द में ले रहा हूँ—प्रिन्स क्रोपटकिन का। उसकी अभी-अभी एक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें उसने कहा कि पारस्परिकता मनुष्य का एक स्वभाव है। उसका शिक्षण देने की आवश्यकता नहीं है, उसकी साधना करने की आवश्यकता भी नहीं है। यह मनुष्य का स्वभाव ही है। मनुष्य एक-दूसरे के बिना जी नहीं सकता। इस स्वभाव का विकास करने की परिस्थिति को, इस देश में पैदा करने के लिए गांधी ने सामुदायिक प्रार्थना की बात कही। केवल 'चेंजिंग द

कान्टेन्ट्स' नहीं, सिर्फ सन्दर्भ-परिवर्तन ही नहीं, उसके साथ-साथ यानी एक ही प्रक्रिया में मनुष्यों को भी एक-दूसरे के निकट लाना है, नहीं तो यह हो सकता है कि संदर्भ-परिवर्तन की प्रक्रिया में ही मनुष्यों में पारस्परिक विरोध पैदा हो और अदावत। विच्छेद पैदा हो या न हो। इसलिए सारी प्रक्रिया इस तरह से बनाई। सामुदायिक कताई —हम उनके प्रयोजन को समझ नहीं सके और हमारा यह एक अभ्यास रहा है इस देश में। अब यह स्वभाव बन गया है दीर्घकालीन अभ्यास के कारण। स्वभाव यह कि जिस बात की हम पूजा करते हैं जीवन में सहसा उसको स्थान भी नहीं देते। लोकमान्य तिलक, गांधी और श्री अरविन्द से भी पहले भगवद्गीता इस देश में थी, लेकिन रेशम के कपड़े में बस्ते में रख दी जाती थी और पूजा की जाती थी। जिन सिद्धान्तों की पूजा होती है उनको पवित्र स्थानों पर रखना चाहिए, तो स्वर्ग में, परलोक में ही उनको रखना चाहिए। जहाँ तक हो सके— इहलोक में उनको भ्रष्ट नहीं होने देना चाहिए। धर्म का रथ तो भूमि से चार अंगुल ऊपर ही चलता था। कहीं भूमि पर न चलने लगे, इसका डर हमेशा रहा। गाड इज़ इन द हैवेन एंड ऑल इज़ वैल विद द वर्ल्ड। ये दो सत्ताएँ रहीं हमारे बीच में—गांधी ने इसी प्रक्रिया में एक दूसरा प्रतीक दिया सामुदायिक कताई का। अब इसमें केवल इतना नहीं था कि जो अवकाश-भोगी हैं, कभी श्रम नहीं करते, वे श्रम करने लगें इतना ही तो था नहीं, इतना होता तो गांधी स्वयं कम-से-कम चाँदी की तकली तो ले ही सकता था। और उससे रेशम का धागा निकाल सकता था। लेकिन इसमें एक संकेत था कि श्रमजीवी और अवकाशजीवी दोनों एक-दूसरे के निकट आयें। हमने क्या किया? इधर विदेशी कपड़ों की मिल की दुकानें भी चलने दीं, उनमें मुनाफा कमाया और घर में आकर खादी पहनकर चरखा भी कात दिया। वही, जैसे काली झण्डी भी दिखा दी और मानपत्र भी दे दिया। और इसमें से माना कि वर्ग-परिवर्तन होगा, वर्ग-निराकरण होगा। यह हमने गांधी के सभी कार्यक्रमों के साथ किया है। कुछ, एक ही कार्यक्रम के साथ किया हो, ऐसा नहीं है। लेकिन जिस दिशा में जाने के लिए उसने कहा था वह चीज इसमें से निष्पन्न नहीं हुई। आज भी मालिक और मजदूर का झगड़ा चल रहा है और अब तो वह गांधी की संस्थाओं में भी आ गया है। यहाँ भी मालिक और नौकर का रिश्ता है ही। पैसा देनेवाला, पैसा पानेवाला। अपने को बेचनेवाला और बेचनेवाले को खरीदनेवाला। इस रिश्ते का गांधी अंत करना चाहता था। आरम्भ दोनों तरफ से हो। दोनों तरफ से इसलिए हो कि अब तक यह डींग मारता रहा है, ऊपर का वर्ग, जिसे हम उच्च वर्ग कहते हैं। वह संस्कृति की डींग मारता रहा है। वह धार्मिकता की डींग मारता रहा है। वह आध्यात्मिकता की शेखी बघारता रहा है। उसके लिए यह चुनौती थी, आह्वान था कि तेरी संस्कृति और तेरी आध्यात्मिकता और तेरी धार्मिकता क्या मनुष्यों के सम्बन्धों में प्रकट हो

सकती है। तो हमने तो इतना ही सीखा था, धर्म ने तो इतना ही सिखाया था कि गुलामों को वैसे ही रखो जैसे अपने बच्चों को रखते हो। लेकिन गुलामी नष्ट मत करो। गरीबों को सुखी करो, उनको दान देते चले जाओ, लेकिन गरीबी नष्ट करने की बात मत सोचो। यह तो हमारी परम्परा थी, उसी परम्परा को लेकर हम गांधी का चरखा और गांधी की तकली कातने लगे और कहा क्या कि मालिक और मज़दूर दोनों के सम्बन्धों को हम शुद्ध करना चाहते हैं। मालिक मालिक रहे और मज़दूर मज़दूर रहे। एक वाक्य गांधी का कोट करते थे--"इन द रामराज्य ऑफ माई ड्रीम द स्टेटस ऑफ ए प्रिन्स एंड ए पॉपर विल बी द सेम"। यह हमने क्या समझ लिया कि प्रिन्स प्रिन्स रहेगा, पॉपर पॉपर रहेगा और फिर भी इनका रुतबा समान रहेगा। कम-से-कम इतनी बेवकूफी तो गांधी की नहीं माननी चाहिए थी कि इतना नासमझ वह रहा होगा। इतना मूर्ख आदमी वह होगा कि भंगी भंगी रहेगा, ब्राह्मण ब्राह्मण रहेगा, फिर इनका समन्वय होगा।

वर्ग-समन्वय उपसिद्धांत है। गरीब गरीब रहेगा, अमीर अमीर रहेगा, मालिक मालिक रहेगा, नौकर नौकर रहेगा, महाजन महाजन रहेगा, मज़दूर मज़दूर रहेगा, और इनका दर्जा समान रहेगा। इनकी प्रतिष्ठा समाज में समान होगी। ऐसी बात गांधी कह सकता है, मैं ऐसा आरोप उस पर नहीं लगा सकता ; क्योंकि उसको कुछ मानता हूँ। थोड़ी श्रद्धा मेरी गांधी में है, इसलिए ऐसा आरोप मैं नहीं लगा सकता। वर्ग-निराकरण की तरफ बढ़ने के लिए कुछ कदम उसने आवश्यक समझे वर्ग-निराकरण हो लेकिन मनुष्य एक-दूसरे के नज़दीक आयें। बीच का व्यवधान, रुकावट, अन्तर अगर हट जाये तो दोनों एक-दूसरे के निकट आयें। दोनों को एक-दूसरे के निकट लाना है यह तो अन्तिम उद्देश्य था। इसलिए यह चीज़ कही कि दोनों तरफ से आरम्भ हो। जिनको क्रान्ति की आवश्यकता है वह गरीब डग भरेंगे, कुछ कदम बड़े लोग लेंगे, रखेंगे। क्रान्ति की जिनको आवश्यकता नहीं है, वे भी धीरे-धीरे ही क्यों न हो, बढ़ेंगे उसी दिशा में; एक-दूसरे की प्रतिकूल दिशा में नहीं जायेंगे। यह संकेत था। तीसरी बात है स्पर्श-भावना की। इस देश में इसकी आवश्यकता क्यों थी ?

हमने अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनकर मान लिया कि हिन्दू धर्म में जैसी उदारता है, वैसी और कहीं नहीं है। उदाहरण क्या देते हैं कि पारसी आये और रहे, यहूदी आये, रहे, हमने इन लोगों में से किसी के धर्म में हस्तक्षेप नहीं किया। सचाई क्या है मित्रो ? एक दफा अंग्रेजों के जमाने में ऐसा हुआ था। एक हिन्दुस्तानवादी नेता ने कहा कि अंग्रेजों से भी ये मुसलमान ज्यादा हमारे बड़े दुश्मन हैं क्योंकि ये स्त्रियों को भगाते हैं। अंग्रेज कम-से-कम, पैसा ले जाता है, स्त्रियों को नहीं भगाता। तो मैंने जवाब दिया कि वह भगाने के लायक ही नहीं मानता है। मुसलमान कम-से-कम इतना तो मानता है कि वह मेरे घर में लाने लायक है, अंग्रेज तो इतना भी नहीं मानता कि

भगाई जाये। आखिर श्रीकृष्ण भगायेगा तो रुक्मिणी को ही तो भगायेगा। इस तरह से हिन्दू ने कभी यह नहीं माना कि दूसरा इस योग्य है कि हमारे बीच में आ सके। हमारे जीवन में दाखिल हो सके, यह उसने कभी नहीं माना। उसकी धार्मिकता मानव-सम्पर्क से परहेज करती रही है। मनुष्य के जितने निकट आओगे, ईश्वर से उतने दूर जाओगे। इसी में से जाति-संस्था आई। जाति-संस्था में प्रवेश का, एन्ट्रेन्स का दरवाजा है ही नहीं। एक्जिट का दरवाजा है। उसमें से धक्के मारकर निकला जा सकता है। अब इसे आप सहिष्णुता कहते हैं। यह टॉलरेन्स हैं। टॉलरेन्स शब्द भी बड़े मजे का है। हम टॉलरेट किस चीज को करते हैं, सहते किस चीज को हैं जो हमारे लिए अनप्लेजेन्ट हो, जो दुखदायी होती है। अब दर्द है सह रहा हूँ। कोई कहे कि बेटी की चिट्ठी आई, तुम आनन्द से उसे सह रहे हो, तो कभी ऐसा नहीं होता। एक किसी धर्म को सहता है, इसका मतलब क्या हुआ—वह धर्म दूसरे धर्म को ठीक मानता ही नहीं। मुसलमान, ईसाई, सिख, बौद्ध, जैन इन सब में कम-से-कम सिद्धान्त-रूप से इतनी उदारता तो थी कि सब मुसलमान हो सकते हैं, ईसाई सब हो सकते है, सिख सब हो सकते हैं। हमारे यहाँ क्या था कि कोई हो ही नहीं सकता है। ब्राह्मण कोई हो ही नहीं सकता है। इतना ही नहीं, तेली-माली कोई नहीं हो सकता। जब तक कायदा न हो। अब इसे आप सहिष्णुता कहते हैं, इसे उदारता कहते हैं? मित्रो, यह टॉलरेन्स नहीं है, यह तो एक्सक्लूसिवनेस है। विवेच्छदता है, व्यावर्तक वृत्ति है। दूसरों को अलग रखने की। इसका नतीजा यह है कि हमारे देश में मानवी मूल्यों का विकास हुआ ही नहीं। यहाँ भूतदया है, गाय के लिए दया है, बकरे के लिए जान देनेवाले लोग पैदा हुए, लेकिन मनुष्य के लिए करुणा नहीं है। इसका कारण? इसका कारण मैं समझ सकता हूँ, तत्त्वज्ञान के आधार पर। लेकिन आज वह प्रसंग नहीं है। कारण कुछ भी रहा हो, परिणाम यह है। इस देश में पशु की अपेक्षा मनुष्य अधिक अप्रतिष्ठित रहा। और इसमें से, इस अस्पर्श भावना में से अस्पृश्यता पैदा हुई। उसका इतिहास चाहे जो रहा हो। अब अस्पृश्य भावना में से स्पर्श भावना की तरफ कदम बढ़ाना है। एक तरुण है, आज मिला था मुझसे, रोज आता था यहाँ—भंगियों का नेता है। भंगी-मुक्ति का काम करता है। चिंतामणि शायद उसका नाम है। वह कहता है कि मैं भंगी-मुक्ति के लिए काम कर रहा हूँ। पूछा क्या कर रहे हो तो जवाब यह मिलता है कि अब उनको सिर पर मैला ढोना नहीं पड़ता है, अब उनको गाड़ी दे दी गई है। लेकिन मैला ढोनेवाली एक जाति तो तय जाति है। अब हमारी इतनी तीव्र, भव्य उदात्त संस्कृति है—इसमें उस भंगी का क्या स्थान। इसका स्थान तो यही रहेगा कि चाहे आप उसको सोने की बाल्टी दे दीजिए, लेकिन काम तो मैला उठाने का ही रहेगा। यह काम उसका न रहे। इसमें सारे क्रान्तिकारियों का एकमत है। भंगी-

मुक्ति होनी चाहिए। यह काम किसी को न करना पड़े, यंत्र से अपने-आप हो जाये। लेकिन इससे ब्राह्मण और भंगी नजदीक नहीं आते, इस प्रक्रिया में। इसलिए गांधी ने कहा कि ब्राह्मण को हाथ में झाड़ू लेकर पाखाना साफ करना चाहिए। और इसे क्रान्ति की प्रक्रिया में 'कोड ऑफ कन्डक्ट' माना। तब स्पर्श-भावना पैदा होगी। भंगी का काम भंगी न करे, इतने से भंगी और ब्राह्मण में एक-दूसरे के प्रति हार्दिक निकटता नहीं पैदा होती। उसको लाने की तरफ गांधी का संकेत था। मित्रो, ये कुछ संकेत हैं जो गांधी के जीवन से हमको मिलते हैं। मैंने राजनीति का संकेत बतलाया कि राजनीति में शत्रुओं के लिए न्याय और हमारे लिए क्षमा हम नहीं मानेंगे, जनता की तरफ से अगर ज्यादती हुई है तो उसका भी धिक्कार होगा। अब इसे आप पवित्रता कहें या न कहें, लेकिन मैं ऐसा मानता हूँ कि शक्ति इसी में से पैदा होती है। और यही पवित्रता है, पवित्रता और किस चीज को कहें मेरी समझ में नहीं आता। पवित्रता यह है कि दूसरे के सुख-दुख को हम अपना सुख-दुख समझें। मनुष्य की सिर्फ हत्या न करो, इतना काफी नहीं है, उसको अपमानित भी न होने दो। हर मनुष्य को, अपने प्रतिपक्षी को भी प्रतिष्ठित मानो। यह आरम्भ है पवित्रता का। पवित्रता का आरम्भ सिर्फ स्नान, संध्या में नहीं है। पवित्रता का यह असली आरम्भ है जहाँ मेरी अहंता का विसर्जन नहीं है, समर्पण है। हमारे इस देश में अहंता कुचल दी गई थी, दबा दी गई थी। अस्मिता जब दब जाती है, तो उसमें से आत्मग्लानि पैदा होती है। आत्मग्लानि अहंवाद का ही एक स्वरूप है। अहंवाद ही उसमें से प्रकट होता है। दूसरा जो उल्लेख आत्मग्लानि का किया, वह उद्दाम अहंवाद है। इन दोनों में ऊपर-ऊपर से हमको फर्क दिखाई देता है, अन्तर दिखाई देता है, लेकिन असलियत इन दोनों की, वास्तविकता इन दोनों की एक है। जो अहंवाद परास्त हो जाता है, वह दब जाता है, क्षीण नहीं होता। और दब जाता है तो कुढ़ता रहता है। यह हमारे देश में था। और जो अहंवाद दूसरों को दबाना चाहता है वह उद्दंड बन जाता है, और दबा हुआ भी कभी उद्दाम बन जाता है। ये दो तरह के अहंवाद ही हमने दुनिया में देखे हैं। लेकिन इनमें से कोई भी अहंवाद अपने नाम पर नहीं चला। जिसको मनुष्य दुर्गुण मानता है वह अपने नाम पर नहीं चलता, वह जीवन का मूल्य नहीं है। जो अपने नाम पर चलता है वह मूल्य है। झूठ सच के नाम पर चलता है, अन्याय न्याय के नाम पर चलता है, भ्रष्टाचार सदाचार के नाम पर चलता है। ये अपने नाम पर कभी नहीं चलते। मैंने इसे परमात्मा की सृष्टि का गौरव माना है कि उसकी सृष्टि में जो कलात्मकता दिखाई देती है, सौन्दर्य दिखाई देता है वह इस चीज में है कि बुराई अपने नाम पर चल ही नहीं सकती। अगर भलाई हमको असफल होती हुई मालूम होती है तो शायद उस भलाई के पीछे निष्ठा नहीं है, जितनी होनी चाहिए। जैसी आज हमारी हालत है। मेरे पास जो साथी आते

हैं वे कहते हैं, हमने बहुत कोशिश की शान्ति से इस समस्या को सुलझाने की, लेकिन हमको यह पता चल गया है कि बिना हिंसा के काम नहीं होगा। टेम्परेरी बीच का एक साधन अपनाया इससे काम बन जाये तो ठीक है। मिसरी खाने से अगर खाँसी ठीक हो जाये तो नाहक फिर क्यों सोंठ खायें। लेकिन नहीं हुई तो फिर सोंठ है ही। यानी अन्तिम मूल्य हिंसा को माना जो अपने नाम पर कभी नहीं चली। अत्याचारी-से-अत्याचारी मनुष्य ने हमेशा अपनी हिंसा के लिए कैफियत दी, क्यों दी। क्या कारण था कैफ़ियत देने का? हिंसा का और झूठ का समर्थन क्यों करना पड़ता है? तू सच क्यों बोला, हम कभी नहीं पूछते। उससे पूछते भी नहीं तो भी वह कहता है कि क्या करें कसाई उधर था और गाय उधर गई। न जाये इसलिए मैंने कहा कि भाई इधर नहीं गाय गई है कोई कहता तो गाय की तरफ चला जाता। वह पूछ रहा था और यह मर्यादा है हमारे धर्म में बताया गया है— कौन-कौन से प्रसंग हैं जब वह झूठ बोल सकता है। उनमें से एक प्रसंग है स्त्री के साथ झूठ बोल सकता है। ऐसे गिना ये हैं प्रसंग। इन मूल्यों का प्रयोग करने में जो वीरता गांधी ने दिखाई, इस तरह की वीरता इससे पहले किसी और ने नहीं दिखाई थी। उसके जीवन का सूत्र था सहयोग। और प्रतिकार भी जो सहयोग की भिन्न अभिव्यक्ति है। जैसे बीमारी का प्रतिकार है। मैं अपने बेटे की बीमारी का प्रतिकार दूसरों की अपेक्षा अधिक तीव्रता से करता हूँ। लेकिन प्रतिकार बेटे का नहीं करता, बीमारी का करता हूँ। गांधी ने गरीब-अमीर को दो जातियाँ नहीं माना था। हमारे यहाँ सज्जन और दुष्ट को दो भिन्न जातियाँ नहीं माना गया है। यह लम्बा विषय है इसको छोड़ देता हूँ। सिर्फ एक-एक दो-दो वाक्य में उल्लेख कर रहा हूँ। आज का गरीब कल अमीर बन सकता है, आज का अमीर कल गरीब बन सकता है। इसलिए दो भिन्न जातियाँ नहीं हैं। गरीबी और अमीरी दोनों दूर हो सकती हैं और दोनों बचाये जा सकते हैं। दोनों एक-दूसरे के नज़दीक आ सकते हैं। मैं समझता हूँ कि इसमें जो हिम्मत है वह अद्भुत हिम्मत है, संकल्प की हिम्मत है। गरीब की बीमारी, गरीबी को दूर करेगा। अमीर की बीमारी, अमीरी को दूर करेगा। गरीब तो अपनी बीमारी को समझता नहीं। फूल गया है, सूजन चढ़ गई है; उसको पुष्टि समझ रहा है। उसे समझाऊँगा। वह समझेगा तो ठीक है। लेकिन जहाँ समझाना व्यर्थ जायेगा, कुंठित हो जायेगा वहाँ समझाने का अगला कदम प्रतिकार होगा। ऐसा प्रतिकार जिसके प्रतिकार के अन्त में उसका भी चित्त शुद्ध हो और मेरा भी। उसमें प्रेशर है, कोअरशन है, लेकिन प्रेशर और कोअरशन ऐसा दूसरों को दबाता नहीं, अपमानित नहीं करता। केवल हथियार हाथ में न लें और जोर-जबरदस्ती न करें, मगर किसी अन्य उपाय से, अपवाद ही क्यों न हो, दूसरे को झुकायें और अपमानित करें तो सत्याग्रह नहीं है, अहिंसा नहीं है, शान्ति भी नही है। इसमें से दोनों का

कल्याण नहीं होता है। कभी-कभी नि:शस्त्र हिंसा सशस्त्र हिंसा से भी भयानक होती है। जैसे मैं हूँ। पुलिसवाला, मुझे लाठी मार दे तो उतना दु:ख नहीं होगा जितना गाली दे देने से होगा। इसी तरह से हिंसा और अहिंसा को समझ लिया गांधी ने और यह कहा कि मेरा असहयोग, मेरा सत्याग्रह मेरे सहयोग की ही अभिव्यक्ति है। उसी का भिन्न रूप है। इसके पीछे सौहार्द्र है, सहृदयता है, मैत्री है। फ्रेंडली परसुएशन तथा फ्रेंडली रिसिस्टेन्स भी। मैच खेलते थे न, तो हम लोग लिखते थे—वी वान्ट टु प्ले ए फ्रेंडली मैच विद योर टीम। जो हार जाता था उसके लिए थी चीयर, हिप् हिप् हुर्रे। आजकल हम समझते हैं उसकी ही फी फुर्रे हो गई है, हार गया है वह। ऐसा नहीं है। राजा के लिए भी थी चीयर, वह जय है। राजा की भी हिप् हिप् हुर्रे करते हैं। खेल में जो संकेत हैं वे संकेत मानवीय प्रतिकार में भी दाखिल हों जो सशस्त्र युद्ध में थे। सशस्त्र धर्मयुद्ध में, वीरता के धर्मयुद्ध में खेल के सारे संस्कार थे। यहाँ पर इतना और कह दूं कि मनुष्य के जीवन में खेल जितनी आध्यात्मिक चीज है उतनी दूसरी कोई नहीं। अगर खेल खेला जाये तो खेल की तरह मानवीय मूल्यों का विकास करनेवाली कोई दूसरी योजना हमारे जीवन में नहीं है। युद्ध और खेल, प्रतिकार और खेल एक-दूसरे के निकट आयें और उसमें मानवीयता की दिलेरी और दिलदारी दोनों का साथ-साथ विकास हो। ऐसी एक प्रक्रिया गांधी ने हमको समझाई।

क्या यह व्यावहारिक चीज़ है ? केवल एक दर्शन है या कि इसका व्यवहार में विनियोग भी हो सकता है, हमारे देश में लोग भूखे थे, निहत्थे थे, निराश थे और हतबुद्ध भी थे। उनकी अक्ल काम नहीं करती थी। अब यह मनुष्य आया तो उलटा-उलटा पाठ पढ़ाने लगा। भूखों से कहा कि उपवास से आरम्भ करो। निहत्थों से कहा कि हथियार मत उठाओ। जो हताश थे उनसे कहा कि एक साल में स्वराज्य होने वाला है। मैं समझता हूँ कि इसके लिए भयंकर साहस चाहिए। या तो यह एक बहुत बड़ा आदमी कर सकता है या बहुत मूर्ख आदमी कर सकता है। इस तरह की बात कोई कहे, भूखे से कहे कि तुम उपवास करो तो फाके से मनुष्य क्षीण हो जाता है। वह या तो भीख माँगने लगता है या चोरी करने लगता है। वहाँ से उसको उबारने के लिए उसने कहा कि मरजी के साथ फाके का नाम उपवास है, जबरदस्ती के उपवास का नाम भुखमरी है। तू अगर अपनी भुखमरी को उपवास में बदल सकता है कुछ समय के लिए तो शक्ति पैदा होगी। वह शक्ति पैदा होगी जो तेरी समझ में नहीं आ रही है। निहत्थे से कहा कि हथियार की खोज मत कर, हथियार का डर छोड़ दे। जिसने हथियार का डर नहीं छोड़ दिया, उसकी जान तो चाकू से भी ली जा सकती है, गला दबाकर भी ली जा सकती है। लेकिन जिसने हथियार का डर छोड़ा उसके लिए ऐटम बम भी अपर्याप्त साबित होता है। असम में एक किसान ने कहा था विनोबा से कि हमको एक एटम बम दिला दो। उसको पता नहीं था कि कितना बड़ा

होता है, क्या होता है। हँसकर पूछा, क्या करोगे ? कहा कि ये भालू और शेर बहुत तकलीफ़ देते हैं, भेड़िये भी आते हैं, जंगली सूअर आते हैं, हम खेती नहीं कर पाते हैं। इसके लिए ऐटम बम की क्या ज़रूरत है ? तो फिर क्या होगा ? वे तो बन्दूक से मारे जा सकते हैं। तो कहने लगा कि ऐटम बम किसके लिए है ? मनुष्यों को मारने के लिए है। उसने कहा कि मनुष्य को तो मैं चाकू से भी मार सकता हूँ, लाठी से मार सकता हूँ, उसके लिए ऐटम बम की क्या ज़रूरत है ? शेर, सिंह, भेड़िये इन सबसे भयानक प्राणी, मनुष्य के लिए मनुष्य है। और उसको मारने के लिए इन शस्त्रास्त्रों की खोज, हो रही है जिनमें से एक भी उनको परास्त नहीं कर सका। उसका संहार कर सकता। हराना और संहार करना दो अलग-अलग चीजें हैं। निहत्था मनुष्य संहार नहीं कर सकेगा, मर सकेगा। और जो मरने के लिए तैयार है उस को एक ही बार मरना पड़ता है। हथियारबन्द आदमी जब परास्त हो जाता है तो हताश हो जाता है। नि:शस्त्र मनुष्य असफल होता है लेकिन हताश नहीं होता। मैं समझता हूँ कि अशक्ति के पीछे छिपी हुई शक्ति देखने की दृष्टि गांधी के पास थी। इसलिए इस निहत्थे, निराश, मोहताज देश को थोड़े दिन के लिए शक्ति का साक्षात्कार वह करा सका। लेकिन हमने उसकी इन तीन बातों को कभी माना ही नहीं था। हमें तो गांधी एक औज़ार के रूप में चाहिए था। जो हमारी आजादी के लिए हमारे काम आये। 'गते व्याधिर्'। व्याधि निकल गई, गांधी की आवश्यकता नहीं रही। अब उसका नाम लेते रहेंगे, लेकिन यह खूब याद रखिए कि राम के नाम ने तो बहुतों को तार दिया, गांधी का नाम हमको तारनेवाला नहीं है। उधार का जीवन किसी राष्ट्र का उद्धार नही कर सकता। चाहे वह उधार जीवन गांधी ही का क्यों न हो। गांधी का जीवन, गांधी का सिद्धान्त—अब इस उधार पर हमारा गुजारा नहीं होनेवाला है। इस देश के हर आदमी को अपने लिए सोचना होगा—गांधी के कुछ संकेत हैं, गांधी की नकल करने से तो कोई काम नहीं होगा। नकलची कहीं नहीं पहुँच सकता। इसलिए मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि नकली गांधी बनने की अपेक्षा असली धर्माधिकारी बने रहना अधिक श्रेष्ठ है। इस देश के मनुष्य को यह सीखना है। उधार की जीवनी, उधार का दर्शन कितनी ही दिव्य विभूति क्यों न हो काम का नहीं, जीवन अपना स्वायत्त होना चाहिए। इस देश का अपना स्वायत्त जीवन। इस देश की परिस्थिति में।

प्राय: ऐसा देखा गया है कि नैतिक आचरण का शिक्षण देनेवाले तथा आध्यात्मिक आश्रमों में सौहार्द्र की कुछ न्यूनता होती है। एक-दूसरे के सुख-दुखों को बाँट लेने में तो कुछ सेवा की भावना होती है, परन्तु एक-दूसरे के दोषों को बरदाश्त करने की क्षमता भी साधना में एक विक्षेप समझा जाता है। इन संस्थाओं में साधक को साधना का ध्यान अधिक होता है, इसलिए वे एक-दूसरे के चारित्र्य पर विशेष

ध्यान देते हैं और जरा-सी भी भूल या त्रुटि सह नहीं सकते। नतीजा यह होता है कि वे मानों एक-दूसरे के निरीक्षक बन जाते हैं और पारस्परिकता कुछ क्षीण हो जाती है। क्योंकि एक-दूसरे की गलतियों और त्रुटियों पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। कहते हैं कि सतत ध्यान से वृत्ति बनती है, इसलिए दोनों के सतत चिंतन के कारण दोष-दर्शन और दोषाविष्करण की दृष्टि बन जाती है।

हमें इसके विपरीत वृत्ति का विकास करना चाहिए। हम एक-दूसरे के दोषों में सहभागी तो नहीं होंगे, लेकिन उन दोषों के परिणामों में सहभागी होने से नहीं हिचकेंगे। जहाँ तक हो सके, दूसरों के गुणों का ही दर्शन और ध्यान करेंगे। इस सम्बन्ध में श्री रामकृष्ण परमहंस देव का सुनाया हुआ एक किस्सा याद आता है। राजाजी ने अपनी 'श्री रामकृष्णोपनिषद्' नामक पुस्तिका में यह कहानी दी है।

एक संन्यासी की कुटी के सामने एक वेश्या का चकला था। संन्यासी बहुत कर्मनिष्ठ और सदाचार के आग्रही थे। कुटी के सामने चकला देखकर उन्हें बहुत संताप होता था। उनका ध्यान दिन-भर उस चकले में आने-जानेवालों की तरफ ही रहता था। उसके कारण चित्त का अमर्ष बहुत बढ़ता था। दिन-रात उसी का चिंतन करते थे। होते-होते एक सुप्रभात में संन्यासीजी ने देह-विसर्जन किया और उसी समय उस वेश्या ने भी दम तोड़ दिया। तत्काल संन्यासीजी के लिए यमदूतों का एक जत्था दाखिल हुआ और उस वेश्या को ले जाने के लिए स्वर्गलोक से विमान आया। संन्यासी को बड़ा विस्मय हुआ। वह यमदूतों से कहने लगा— जरूर कोई गलती हुई है। वहाँ से जो आदेश मिला होगा, उसमें कुछ घपला हो गया है। तुम लोगों को उस वेश्या के लिए भेजा होगा और वह विमान होगा मेरे लिए। तुम लौट जाओ और ठीक-ठीक आदेश लेकर आओ। यमदूत बोले—यतिजी, किसी तरह का घपला नहीं हुआ है। यथायोग्य न्याय ही हुआ है। महाराज, आप निरन्तर उस वेश्या का ही ध्यान करते थे और वह बेचारी अपने भाग्य को कोसती थी। उसकी तमन्ना थी कि आप-जैसा निर्मल जीवन जिये। वह आपका जीवन देखकर तरसती थी और आपके पवित्र जीवन का सतत चिंतन करती थी। आपका शारीरिक जीवन पवित्र था, इसलिए देखिए आपका शव बड़े समारोह के साथ पालकी में ले जाया जा रहा है। आपके शरीर का यथोचित गौरव हो रहा है और उस वेश्या का शरीर धूल में पड़ा हुआ है, उसे उठाने के लिए भी कोई मिलता नहीं है। उसके शरीर की दुर्गति हो रही है। परन्तु अव्याहत चिंतन से उसका चित्त शुद्ध हो गया था इसलिए उसकी खातिर विमान आया और आपको लेने हम आये। संन्यासी अवाक् रह गया।

वेश्या की इस दृष्टि को भद्र-दर्शन या शुभ-दर्शन कहते हैं। वाल्मीकि ने कौशल्या का जहाँ-जहाँ वर्णन किया है, वहाँ-वहाँ उसे 'कौशल्या शुभदर्शना' कहा है। कुछ व्याख्याकारों ने 'शुभदर्शना' का अर्थ देखने में सुन्दर यानी रूपवती किया

है। मैं समझता हूँ वाल्मीकि का आशय रूपवती कौशल्या से तो था ही परन्तु उनका विशिष्ट संकेत उसकी सौन्दर्य-दृष्टि से था। सुन्दर दिखनेवाली ही नहीं, अपितु सुन्दर देखनेवाली, जिसकी आँख भी सुन्दर थी और दृष्टि सुन्दरतम थी। उसकी आँख कभी अच्छाई को चुगने में थकती नहीं थी। वह नित्य भद्र और शुभ को ही देखती थी। वैदिक प्रार्थना भी है कि "हमारे कान नित्य भद्र का ही श्रवण करें और आँखें भद्र का ही दर्शन करें"।

गांधी यह भद्र दृष्टि लेकर आया था, इसलिए उसने भूखों को उपवास की दीक्षा दी। निहत्थों को हथियार का डर छोड़ देने की दीक्षा दी और हतवीर्यों को वीरता की दीक्षा दी तथा हताशों में आशा और स्फूर्ति की चिनगारी सुलगाई। गांधी अशक्तों में छिपी हुई शक्ति का दर्शन कर सकता था और निराश लोगों के हृदयों में छिपी हुई स्फूर्ति की चिनगारी सुलगाकर उनके जीवनों को आलोकित कर सकता था। यही गांधी की महिमा और गरिमा थी।

गगनाञ्चल

वर्ष 22 अंक 4 अक्टूबर-दिसम्बर 1999

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्